UNIVERSAL LIBRARY

OU_180782

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82/T16D Accession No. G.H. 858

Author टंडन, प्रेमनारायण ।

Title दिवास्वप्न और अन्य एकांकी । 1956

This book should be returned on or before the date last marked below.

दिवा-स्वप्न

और

अन्य एकांकी

प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०

मई, १९[illegible]

प्रकाशक—

विद्यामंदिर, रानीकटरा, लखनऊ

प्रथम संस्करण

मूल्य : दो रुपया

मुद्रक—

विद्यामंदिर प्रेस, रानीकटरा, लखनऊ

मेरी रचनाओं पर जिसकी ममता है
उसको, सस्नेह

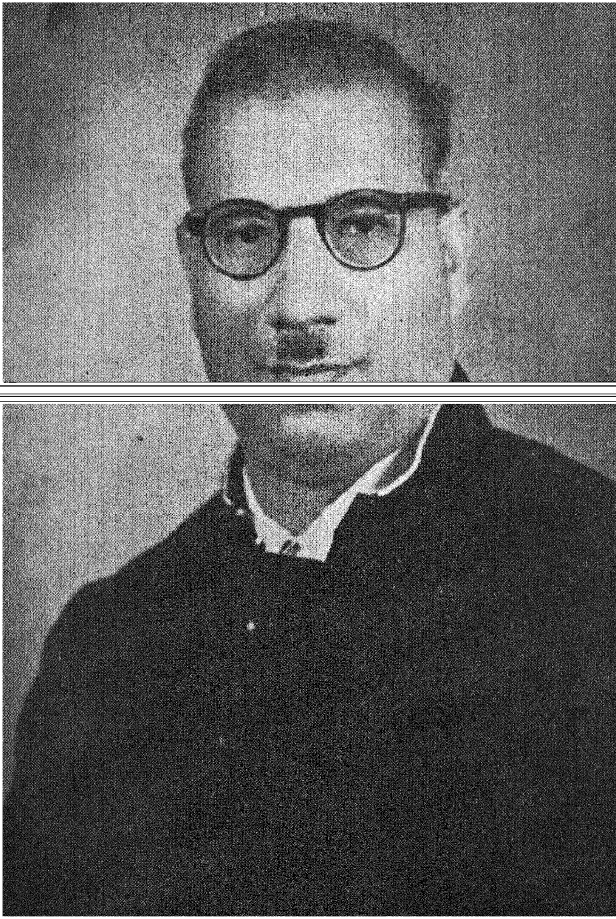

लेखक

निवेदन

'दिवा-स्वप्न' मेरा चौथा एकांकी-संकलन है। इसके चार एकांकियों में प्रथम १९५३ में लिखा गया था और अंतिम हाल ही में समाप्त हुआ है। शेष दोनों दो वर्ष पूर्व के हैं।

'दिवा-स्वप्न' के पूर्व की कथा से संबंधित एकांकी 'कर्मपथ', इसी नाम के संकलन में है। उसमें देवपुत्र कच का चरित्र मिल सकता है।

परंतु 'दिवा-स्वप्न' अपने में पूर्ण है और स्वतंत्र एकांकी के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। गीतात्मक छाया-एकांकी की दृष्टि से इसमें एक नवीन प्रयोग है। इसकी पौराणिक कथा में नवीनता के समावेश का प्रयास भी सर्वथा मौलिक है।

प्रस्तुत संकलन का दूसरा पौराणिक नाटक है 'कृष्ण-जन्म'। आज के पाठकों को इस एकांकी की भी कल्पना से संतोष होना चाहिए।

शेष दोनों एकांकी सामयिक हैं। इनके संबंध में मुझे कुछ नहीं कहना है। अपना परिचय ये आप दे लेंगे।

मेरे कुछ एकांकियों में क्रियाशीलता का अभाव कुछ आलोचकों को खटकता है। प्रस्तुत संकलन के एकांकियों में अपेक्षाकृत अधिक सक्रियता वे पायँगे, ऐसी आशा है।

२३ मई, १९५६] —प्रे० ना० टंडन

सूची

१.	उपहार	पृष्ठ ६
२.	श्रम-दान	,, ३६
३.	कृष्ण-जन्म	,, ७२
४.	दिवा-स्वप्न	,, १०१

उपहार

स्थान—

दिवाकर के मकान का बाहरी कमरा। पश्चिम की ओर एक तख्त पर एक दरी और चादर बिछी है। उस पर दो तकिये रखे हैं जो न ज्यादा बड़े हैं न छोटे। दक्षिण की ओर हलकी कोच पड़ी है और उत्तर की ओर उसी सेट की दो कुर्सियाँ। दोनों के बीच में एक छोटी मेज है जिस पर हरा बिछावन है।

तख्त के दोनों ओर दीवारों में दो अलमारियाँ हैं जिनमें पुस्तकें चुनी हैं। गर्द से बचाने के लिए दोनों पर पर्दे पड़े हैं। उनके ठीक सामने दो छोटी शीशे की अलमारियाँ हैं। ये भी पुस्तकों से भरी हैं। इनके ऊपर दो छोटे फोटो लगे हैं।

कमरे में दो द्वार हैं— एक दक्षिण की ओर जो घर में खुलता है और दूसरा उत्तरी दीवाल में जो बाहर बरामदे में खुलता है। दोनों द्वारों पर पर्दे पड़े हैं। दक्षिणी और उत्तरी दीवारों में ऊपर रोशनदान भी हैं।

पात्र—

दिवाकर—लखनऊ के एक महाविद्यालय का उपप्रधान। प्रधान के पद का प्रार्थी।

निशिकांत—आगरे के कला-महाविद्यालय में उपप्रधान, दिवाकर का पूर्व सहपाठी और समवयस्क मित्र, प्रसिद्ध कवि तथा नाटककार। प्रधान के पद का प्रार्थी।

राजीव—दिवाकर का समवयस्क मित्र और पड़ोसी।

प्रवीण—दिवाकर का सहयोगी अध्यापक।

रेखा—दिवाकर की पत्नी।

सतीश—दिवाकर का पुत्र।

समय—

प्रातः साढ़े दस बजे; दीपावली के एक पक्ष पूर्व।

[बाहरी बैठक में दिवाकर और राजीव । दिवाकर पैंतालिस वर्ष का दोहरे बदन का व्यक्ति है। बाल सारे काले हैं, यद्यपि गंजापन दोनों किनारों पर ही है, बीच में आधी चाँद साफ है। मुख पर सरलता की छाप। आकृति में तेज। सुनहरे फ्रेम का चश्मा। सफेद कुरता और लखनउआ ढंग की धोती पहने।

राजीव उसी का समवयस्क। इकहरा बदन। मुख पर अनुभवीपन की छाप। काले मोटे फ्रेम का चश्मा। कुर्त्ता, धोती और जवाहर जैकेट पहने।

दिवाकर के हाथ में एक पुराना पत्र है। उसके मुख पर मुस्कराहट सी है। राजीव उसकी ओर उत्सुकता से देख रहा है।]

राजीव—किसका पत्र है ?

दिवाकर—मेरे एक मित्र का; दस वर्ष पूर्व का लिखा हुआ। आगरे के निशिकांत को जानते हो ?

राजीव – निशिकांत ! प्रसिद्ध कवि और नाटककार ?

दिवाकर – हाँ, वे ही। मेरे सहपाठी थे एम० ए० में। आगरे के कला-महाविद्यालय में उपप्रधान हैं आजकल।

राजीव—दस वर्ष पूर्व का पत्र ! आज कैसे याद आ गयी इसकी ?

दिवाकर—दीपावली के दिन हैं न ! किताबों की अलमारी साफ कर रहा था। उसी में मिल गया यह।

राजीव – कोई विशेष बात है इसमें ?

दिवाकर—कुछ नहीं; जब मैं उपप्रधान नियुक्त हुआ था विद्यालय में, तब बधाई देते हुए लिखा था उन्होंने। शुभकामना भी है कि शीघ्र ही आचार्य-पद मिले मुझे।

राजीव—बड़े मौके से मिला आज यह पत्र ?

दिवाकर—हाँ, यह पत्र देखकर सहसा हँसी आ गयी कि आज ही प्रधान की नियुक्ति होगी विद्यालय में।

राजीव—किस समय तक निर्णय होगा आज ?

दिवाकर—बैठक हो रही होगी इस समय, दस बजे से थी।

राजीव—पता लगा आपको कुल कितने प्रार्थी हैं ?

दिवाकर—मुझे ? मैंने कभी चिन्ता नहीं की इस बात की ! और पता लगता भी कैसे मुझको ?

राजीव—क्यों, दफ्तर से तो आसानी से चल सकता था पता !

दिवाकर—दफ्तर से पता ! जो लोग मेरे सामने कुर्सी पर नहीं बैठते, उनसे पूछता मैं गोपनीय बात ?

राजीव—हर्ज ही क्या था इसमें ? प्रार्थियों के नामों में गोपनीयता की क्या बात ! फिर दफ्तर वाले तो....!

दिवाकर—पूछने पर क्या समझते वे मुझे ? क्या रह जाती मेरी इज्जत उनकी निगाह में, और....(कहते-कहते रुक जाता है)।

राजीव—क्या ?

दिवाकर—जानते हो, जो मुझे यह भेद बताता उसका कभी फिर विश्वास करता मैं ? गोपनीय बात जो मुझे बता सकता है, वह दूसरों से भी गुप्त रख सकेगा कुछ ?

राजीव—व्यर्थ की भावुकता में पड़ गये तुम ! आज सभी जगह तो हो रहा है यह। किसी भी कार्यालय में गुप्त रह सकता है कुछ ? जहाँ से कहिए, जिस आफिस""""।

दिवाकर —(बीच ही में) होगा, मेरे सिद्धांत के विरुद्ध है यह । विशेष कर जब ... ।

राजीव—जब आचार्य का पद सीधे आपको न दिया गया, यही न ?

दिवाकर हाँ, यही ! मैं यह नहीं कहता कि इस पद के लिए सबसे योग्य मैं ही हूँ, परन्तु (संकुचित होकर), परन्तु.... ।

राजीव—आपको दस वर्ष उपआचार्य के पद पर काम करते हुए, तब तो हक हो जाता है आपका ।

दिवाकर—हक की बात भी नहीं उठाता मैं । मेरा तो तर्क है कि ऊपर के पद खाली होने पर नीचे वालों को न दिये जायँगे, तो कार्य के प्रति रुचि ही क्या रह जायगी उनको ?

राजीव—इन बातों की चिन्ता ही कब करते हैं अधिकारी !

दिवाकर – न करें, मैं तो उनसे लड़ जाता, अगर दूसरे की बात होती; मेरा प्रश्न है, इसी से चुप हूँ ।

राजीव—भाई, मजबूर है अधिकारी-वर्ग भी । होता यह है कि पद पीछे खाली होता है, समिति के सदस्यों का कोई-न कोई सम्बन्धी, मित्र या परिचित निकल ही आता है प्रार्थी के रूप में । और तब किसी के अधिकार का ध्यान ही कैसे रख सकते हैं वे ?

दिवाकर—(तटस्थता से) इस बार तो चुप ही रहना है मुझे, पर इसके बाद ही बात करूँगा उनसे साफ साथ ।

राजीव - मिले तो होगे सदस्यों से तुम ?

दिवाकर —अपने लिए किसी से मिलता ! (सरलता से कुछ हँसकर) भाई मुझसे तो नहीं हो सका यह ।

राजीव—(व्यंग्य से हँसकर) ये सिद्धान्त, जनाब ! इस युग के उपयुक्त नहीं है; समझते हैं इसे आप ?

दिवाकर—समझता हूँ अच्छी तरह; परन्तु .... परन्तु सिद्धान्त रहित जीवन ! (कुछ तेज स्वर में) मैं इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता ! (स्वर परिवर्तित करके) फिर, एक बात और है ।

राजीव—क्या मतलब आपका ?

दिवाकर—मेरी नियुक्ति न हुई तब तो कोई बात ही नहीं है; सबसे हट कर बात कर सकूँगा; किसी के सामने सिर तो न झुकाना पड़ेगा मुझे । परन्तु........

राजीव—आप इन बारीकियों में ही पड़े रहेंगे और किसी दौड़-धूपिये की नियुक्ति हो जायगी , जैसा सब जगह होता है आजकल ।

दिवाकर—हो जाय, किसी से मिलने पर मेरी नियुक्ति हुई, तब तो जीवन-भर झुकना पड़ेगा मुझे उसके सामने; उलटी सीधी सभी माननी पड़ेंगी उसकी, और .... और शायद तुम जानते हो कि यही नहीं हो सकता मुझसे !

राजीव—परन्तु आपकी समिति वालों को शिकायत भी तो हो सकती है कि आप एक बार भी नहीं मिले किसी से । जानते हैं आप कि अधिकारी-वर्ग मिलने-जुलने वालों को ही पसंद करता है । अवैतनिक कार्य करने वालों को कम-से-कम इतना सम्मान तो मिलना ही चाहिए जनसाधारण से (हँसने लगता है) ।

दिवाकर—इसी विद्यालय में दस वर्ष अध्यापक रहा मैं, इतने ही समय से उपप्रधान हूँ और अधिकारी वर्ग यह भी जानता है कि प्रधान-पद के लिए अब प्रार्थी हूँ मैं । अधिक क्या जानना चाहते वे ?

राजीव—यह तो ठीक है, पर एक बार शिष्टाचार के नाते ही मिलना चाहिए था आपको । समय की आज यही माँग है । दुनियाँ में आँख बंद करके चलने और अपने में ही केंद्रित रहने वालों की उन्नति

नहीं होती आजकल। ढिंढोरा पीटिए, जोर-जोर से चिल्लाए—मैंने यह किया, मैंने वह किया, तभी दूसरे समझेंगे कि कुछ है। (परिवर्तित स्वर में) आप यह सब न करते, परंतु मिलते तो एक बार।

दिवाकर—कहता ही क्या उनसे ? मेरी जो कुछ योग्यता है, वे जानते हैं। यदि उनमें से कुछ लोग नहीं जानते, तो क्या सब कुछ मान लेते वे मेरे कहने से ?

राजीव—(तर्क को समाप्त करने के उद्देश्य से हँसकर) तो लोगों के भाग्य का निर्णय कितनी देर में कर लेगी समिति ?

दिवाकर—(घड़ी देख कर) अनुमान है कि दो घंटे में निर्णय हो जाना चाहिए।

राजीव—(सहास) निर्णय जानने के लिए तो जायँगे आप, या इसमें भी कोई सिद्धान्त है ?

दिवाकर—(हँसकर) उसके लिए जाऊँगा; क्योंकि निर्णय के बाद तो गुप्त नहीं रह जाती कोई बात।

राजीव—सच बताना, अंतरात्मा तुम्हारी क्या कहती है, हो जाओगे नियुक्त तुम ?

दिवाकर—(किंचित संकोचमिश्रित मुस्कराहट के साथ) ठीक नहीं कह सकता ! (सरल स्वर में) मुझे जहाँ तक पता लगा है अपने सहयोगियों से, वह यह है कि कुछ सदस्य बाहरवालों के पक्ष में हैं और इन सदस्यों की बात का मूल्य है समिति में।

राजीव—क्यों असंतुष्ट हैं तुमसे वे ?

दिवाकर—संतोष-असंतोष नहीं; तुम्हीं ने तो कहा अभी कि राजनीति के खेल चलते हैं नियुक्तियों में।

राजीव—ठीक है, जातीयता, प्रांतीयता, सभी जो बढ़ती जाती है। कोई कार्यालय ले लीजिए—सरकारी हो या गैरसरकारी—अध्यक्ष को जरा भी अधिकार हुआ तो बस समझ लीजिए कि उसके खान्दान का. गाँव, का, शहर का, प्रांत का, कोई योग्य-अयोग्य बचेगा नहीं नौकरी पाने से।

दिवाकर—मुझे आपत्ति है इसमें। सब अध्यक्षों के संबंध में ऐस नहीं कह सकते तुम।

राजीव—मानता हूँ; अपवाद सभी जगह रहते हैं और यह भी कहे देता हूँ कि ऐसे अपवादों के बने रहने तक ही कारबार चल रहा है हमारी सस्थाओं का, नहीं तो ढेर हो जायँ दो ही दिनों में।

दिवाकर—मेरा तो अनुभव कि अपनों को नियुक्त कर लेन सरल होता है लेकिन उनसे काम लेना बड़ा कठिन है। शायद इसी से कार्यक्षमता दिन-दिन गिरती जाती है।

[सतीश का पान की तश्तरी लिये प्रवेश। दिवाकर पहले मित्र को पान देता है, फिर स्वयं खाकर तश्तरी सतीश को लौटा देता है। वह भीतर चला जाता है।]

राजीव—मैं कुछ-कुछ समझ रहा हूँ कि कौन-कौन सदस्य हो सकते हैं ऐसी मनोवृत्ति के। (जिज्ञासा से) कुछ तो अनुमान लगा ही सकते हो तुम, कि प्रार्थी कौन-कौन हो सकते हैं।

दिवाकर—(पुनः संकोच के स्वर में) दो-एक नाम उड़ते-उड़ते सुने हैं, पर'''परंतु इस संबंध में इतना ही कह सकता हूँ मैं कि न्याय मेरे ही पक्ष में है, यों किया चाहे जो जाय।

राजीव—(एकाएक) क्या तुम्हारे दस वर्ष पूर्व के ये मित्र भी प्रार्थी हो सकते हैं ?

दिवाकर—(चौंककर) कौन, निशिकांत ?

राजीव—हाँ, जिन्होंने इस पत्र में बधाई देते हुए तुम्हारे प्रधान बनाये जाने की कामना की है।

दिवाकर—(परिवर्तित स्वर में, कुछ-कुछ मुसकराते हुए) हो भी सकते हैं।

राजीव—आप जानते हैं अवश्य; साफ-साफ बताइए !

दिवाकर—(स्पष्टता से हँस कर) हाँ, हैं।

राजीव—सच ! बड़े अद्भुत आदमी हैं आपके ये मित्र ! आपके लिए जिस बात की कामना की, अवसर आते ही हो गये स्वयं उसी के प्रार्थी ।

दिवाकर—(शांत स्वर में) कामना दस वर्ष पूर्व की है, प्रार्थी आज हुए हैं।

राजीव—दुनिया बड़ी विचित्र है।

दिवाकर—इसमें विचित्रता क्या है ? सभी आगे बढ़ना चाहते हैं। और मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि सभी को आगे बढ़ने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। महत्वाकांक्षा जिसमें नहीं, वह मनुष्य जीवित ही मृतक है।

राजीव—लेकिन महत्वाकांक्षी को संबंध का तो ध्यान रखना चाहिए, अधिकार की तो बात सोचनी चाहिए, सत्पथ पर तो रहना चाहिए। स्पर्धा के आवेश में उचित-अनुचित का ध्यान न रहे, संबंध को भुला दिया जाय, तो मानव की बुद्धिमता किस काम की ?

दिवाकर—यह तो मनुष्य का नहीं, आज की प्रथा का दोष है।

जब नियुक्ति की पद्धति ही एक प्रकार से निर्वाचन पर आधारित है, तब सभी को अपना भाग्य परखने का लोभ होता है।

राजीव—क्या तुम समझते हो, है इनकी पहुँच सदस्यों तक ?

दिवाकर—(बहुत तटस्थ भाव से) नाम तो जोरों से लिया जा रहा है इनका।

राजीव—(एकटक दिवाकर के मुख की ओर देखता हुआ, जैसे उसके मनोभावों का अध्ययन करना चाहता हो) एक बात बताओगे ?

दिवाकर—(कुछ सोचता हुआ) क्या ?

राजीव—यदि तुम्हारी नियुक्ति न हुई तो क्या करोगे ?

दिवाकर—(दृढ़ता से) करना क्या है—अन्याय के आगे सिर झुकाना या नौकरी ठुकरा देना। अभी मैंने निश्चित नहीं किया है कि कौन-सा मार्ग पकड़ूँगा; शायद इसलिए कि मेरी अन्तरात्मा का न्याय पर ही विश्वास है अब भी।

राजीव—न्याय ! इस युग में ! इस पद्धति में !

दिवाकर—न्याय हर युग में होता है; कभी स्वतः, कभी प्रयत्न करने पर, कभी ईमानदारी से, कभी न्यायप्रियता के लोभ से। मानव की चेतना अन्याय के पाखंड को अधिक समय तक नहीं ढो पाती; अन्यथा यह उसकी बौद्धिकता का स्थायी कलंक बन जाय।

राजीव—(प्रभावित होकर) मेरी हार्दिक कामना है कि तुम्हारी यह आशा फलीभूत हो।

दिवाकर—थोड़ी ही देर में निर्णय हो जायगा; चलोगे तुम मेरे साथ आफिस ?

राजीव—कहो तो चलूँ। तुम्हें बधाई देकर और मिठाई खाकर ही जाना चाहता हूँ आज तो।

दिवाकर—(कुछ सोचता हुआ) यहीं रुको तुम; यही ठीक होगा। अभी आधे घंटे में आया मैं। (उठकर अलमारी के पास जाता है। दो-तीन पत्रिकाएँ उठाकर राजीव को देता हुआ) देखो तब तक; इसी मास की हैं।

[दिवाकर भीतर कपड़ा पहनने चला जाता है। राजीव एक पत्रिका उठाकर पलटने और कुछ पढ़ने लगता है। दिवाकर का पुनः आगमन। बंद गले का कोट और सफेद खादी की टोपी पहने। कांतिपूर्ण मुख और सतेज नेत्र।]

दिवाकर—(बाहर के द्वार की ओर बढ़ता हुआ) अभी आया मैं जरा देर में।

राजीव—मेरी शुभकामनाएँ तुम्हारे साथ हैं। मेरी उत्सुकता बढ़ती रहेगी, इसका ध्यान रखना।

[दिवाकर मुसकरा कर देखता है, कोई उत्तर नहीं देता। बाहर के द्वार की चिक उठा कर चला जाता है। राजीव हाथ की पत्रिका रख कर दूसरी उठा लेता है। एक बार सरसरी तौर से पलटकर उसे रख देता है और तीसरी उठा लेता है। निशिकांत का दस वर्ष पूर्व का लिखा हुआ पत्र सामने की छोटी मेज पर पड़ा है। सहसा निगाह पड़ते ही राजीव उसे उठा लेता है और उलट-पलट कर देखता है। लिफाफा खुला हुआ है। राजीव अन्दर से पत्र निकाल लेता है। फिर कुछ सोचकर लिपटे हुए कागज को खोलता नहीं; उसे लिफाफे में ही रख देता है। पश्चात्, तख्त पर पड़े हुए बड़े तकिए को उठा

लेता है और सिरहाने लगाकर कोच पर लेटे-लेटे पत्रिका पढ़ने लगता है।

सतीश का प्रवेश। वह तश्तरी में पान-इलायची लाया है। सतीश तश्तरी राजीव के सामने करता है। राजीव उसके हाथ से तश्तरी लेकर, स्नेह से उसकी ओर देखता हुआ, उठकर बैठ जाता है।]

राजीव—एक गिलास पानी तो लाइए, सतीश जी।

[सतीश फुर्ती से भीतर चला जाता है राजीव तश्तरी में से एक पान उठा लेता है। अपनी जवाहर जैकेट से तम्बाकू की डिबिया निकालकर उसमें डालता है। दूसरे पान में भी इसी तरह तम्बाकू डाली जाती है। दोनों पान इतमीनान से हाथ में लेकर वह पुनः पत्रिका सीधी करता है कि सतीश पानी ले आता है। राजीव पानी पीकर और पान खाकर लेटता है। सतीश को वह हाथ पकड़ कर अपने पास बैठा लेता है।]

राजीव—तुम्हारे पिता जी विद्यालय के आचार्य हो जायँगे, तो क्या खिलाओगे हमें ?

सतीश—(सकुचाते हुए) जी, जो कहिएगा।

राजीव—(मुसकराता हुआ) खानेवाला खाने की चीजें थोड़े ही बताता है। तुम्हीं सोचो, क्या क्या खिलाना चाहिए।

सतीश—जी, मिठाई-फल।

राजीव—तुम्हें मिठाई अच्छी लगती है या फल ?

सतीश—(धीरे से) जी, दोनों।

राजीव—ज्यादा अच्छा क्या लगता है—मिठाई या फल ?

सतीश—(भीतरी दरवाजे पर एक दृष्टि डालकर शीघ्रता से) मिठाई; फल तो बीमार खाते हैं।

[बाहर के द्वार से चिक उठा कर प्रवीण का प्रवेश। वे राजीव को नमस्ते करते हैं और उनसे उत्तर मिलता है। सतीश भी उन्हें नमस्ते करता और आशीश पाता है। प्रवीण जी एक कुर्सी पर बैठ जाते हैं।]

प्रवीण—(सतीश से) पिता जी हैं घर में ?

सतीश – जी नहीं, अभी बाहर गये हैं।

राजीव—आपके विद्यालय में आचार्य की नियुक्ति का निर्णय होगा न आज; इसी के लिए अभी-अभी वे गये हैं।

प्रवीण—उनके साथ वहीं जाने के लिए तो आया था मैं।

राजीव—दिवाकर जी हो जायँगे नियुक्त या कोई बाहर वाला लादा जायगा ?

प्रवीण—होना तो इन्हीं को चाहिए, पर इन्होंने कोशिश नहीं की है बिलकुल। आज के जमाने में, आप तो जानते ही हैं, बिना कोशिश के नियुक्ति होना बहुत मुश्किल होता है।

राजीव – समझाया नहीं इन्हें आप लोगों ने ?

प्रवीण—हमारे समझाने से ही आवेदन-पत्र भेजा इन्होंने, नहीं तो ये उसके लिए भी तैयार नहीं थे। पर किसी से न मिलने की बात पर ये अन्त तक अड़े रहे।

राजीव आप ही लोग मिल लेते दो-एक सदस्यों से ?

प्रवीण—हम लोगों के मिलने का मूल्य ही क्या है ? (कुछ रुक कर) हम लोग तो और ही कुछ सोच रहे हैं।

राजीव—यही न कि अगर नया आदमी आ गया तो परेशान करेंगे आप उसे ?

प्रवीण—नहीं, इससे तो केवल मानसिक अशांति ही हाथ आयगी।

राजीव—तब क्या विद्यार्थियों को उकसाइएगा ?

प्रवीण—यह तो और भी बुरा होगा—अनुशासन और नीति दोनों के सर्वथा विपरीत।

राजीव—(हँस कर) आप सब लोग आदर्शों को ही पकड़े बैठे रह जायँगे। अरे, उचित-अनुचित सभी बातों के लिए तो आज उकसाया जाता है विद्यार्थियों को जैसे इससे बढ़िया साधन सूझता ही नहीं किसी को।

प्रवीण—ठीक है, अपना-अपना मार्ग है। परंतु मेरी सम्मति में तो व्यक्तिगत लाभ के लिए विद्यार्थियों का सहयोग लेना क्षुद्र स्वार्थ-परता ही नहीं, कष्टदायी अदूरदर्शिता होती है। हम अध्यापकों को तो............।

राजीव—(बात काट कर) मेरा संकेत अध्यापकों की ओर ही था। राजनीतिक नेता देश के नाम पर उन्हें जो मूर्ख बनाते हैं, उसकी बात मैं यहाँ नहीं उठ ना चाहता।

प्रवीण—(सरलता से) मैंने निवेदन किया न कि हर व्यक्ति का मार्ग अलग होता है। मेरे सहयोगियों को यह मार्ग ठीक नहीं जान

पड़ता। विद्यार्थी भी बुद्धिमान होते हैं। जिनसे हम सहयोग चाहेंगे, उनके स्वार्थ की सिद्धि में हमें भी सहायता करनी होगी और तब क्या होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

राजीव—तब क्या करने का विचार है आपका ?

प्रवीण—(एक कागज जेब से निकाल कर) यह स्तीफा है हम सात अध्यापकों का, जिन्हें आठ-आठ दस-दस वर्ष हो गये हैं इस विद्यालय में। इसे धमकी न समझें आप और न दिवाकर जी का ही है समर्थन इसमें किसी प्रकार का। हमने तो एक निजी स्वार्थ की बात लिखी है।

राजीव—आपका स्वार्थ क्या हो सकता है इस अवसर पर ?

प्रवीण—हमारा स्वार्थ! इस प्रकार की नियुक्तियाँ परिपाटी बन जाती हैं। ऊपर का पद बीस वर्ष के अनुभवी और अधिकारी अपने विद्यालय के ही अध्यापक को न दिया जायगा, तो हम लोगों के लिए भविष्य में क्या आशा रह जाती है ?

राजीव—तो क्या आपको निश्चय हो गया है कि बाहर का आदमी ही नियुक्त होगा इस बार ?

प्रवीण—नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है अभी। इसीलिए तो यह स्तीफा जेब में पड़ा है।

राजीव—मुझे तो विश्वास है कि जेब में ही पड़ा रह जायगा यह।

प्रवीण—ऐसा हो, तब तो कहना ही क्या है ? (कुछ रुक कर) हम बाहर के आदमियों को लेने का विरोध नहीं करते। योग्य व्यक्ति मिलें, अवश्य लीजिए; परन्तु अपने अध्यापकों से हर बात में श्रेष्ठ होना

चाहिए वह; सिर्फ दूसरों के बहकावे में आकर बाहर के जूनियरों की नियुक्ति के हम विरोधी हैं और सिद्धान्ततः हर समझदार समर्थन करेगा हमारा।

राजीव—तो क्या किसी ने बहकाया है समिति के सदस्यों को ?

प्रवीण—सो तो है ही। हमारे दिवाकर जी न चाटुकारी चाहते हैं, न करते हैं। अपने काम से काम है इन्हें। इनके कुछ नियम हैं और उनके निर्वाह में बड़े कट्टर हैं ये। और आज के युग में नियम और सिद्धान्त की बकवाद करनेवालों का आदर है, उनका निर्वाह करनेवालों का नहीं।

राजीव—और अधिकारी होते हैं कान के कच्चे, इसी से विरोधियों की बन आती है।

प्रवीण—यही तो अच्छा चलूँ मैं। समिति ने तो, संभव है, निर्णय कर लिया हो अब तक। दिवाकर जी के साथ ही लौटूँगा। आपके दर्शन तो होंगे यहाँ अभी ?

राजीव—जी हाँ, शुभ सूचना सुनकर ही जाऊँगा मैं।

[प्रवीण जी का शीघ्रता से प्रस्थान। राजीव कुछ देर तक उसी ओर देखता रहता है, फिर तकिए के सहारे लेट जाता है]

राजीव—सतीश जी, एक गिलास पानी और पिलाइये।

[सतीश भीतर जाता है। राजीव उठ कर तश्तरी से दो पान लेकर उसमें तंबाकू डालता है। सतीश पानी लेकर आता है। राजीव पानी पीकर और पान खाकर पुनः लेटता है।]

राजीव—हाँ तो मिठाई पसंद है आपको ? कितनी मिठाई खा सकते हैं आप एक बार में ?

सतीश—जी, पाव भर।

राजीव—बस ? अरे मैं तो मन भर खाता हूँ एक बार में।

सतीश—मन भर अकेले आप कैसे खा सकते हैं ?

राजीव—तो खिला कर देख लीजिए। मन भर से एक टुकड़ा न कम खाऊँगा, न ज्यादा। (जोर से हँस कर) पर मन भर से आप समझे क्या ? चालीस सेर वाला मन ? अरे नहीं ! मन भर से मतलब है कि जब तक मन न भर जायगा, खाता रहूँगा। समझे ? अब तो आप भी मन भर खा सकते हैं; क्यों ?

[सतीश समझ कर हँसने लगता है, उत्तर नहीं देता। बाहर से आवाज आती है—दिवाकर जी ! सतीश जल्दी से बाहर जाता है। राजीव उठ कर तकिए के सहारे बैठ कर बाहर की ओर देखने लगता है। सतीश के साथ निशिकांत का प्रवेश। अवस्था लगभग ४० वर्ष। सूट-बूट, टाई धारण किये। इकहरा, फुर्तीला बदन। सुनहरा चश्मा। सोने की चेनदार घड़ी। रंग साँवला। मूँछें महीन। अभी पान खाये। भावुकतापूर्ण चितवन। बेतकल्लुफी से प्रवेश। राजीव को हाथ जोड़, प्रत्युत्तर पा, सतीश को दुलार से थपथपाता हुआ तख्त पर बैठ जाता है।]

निशिकांत—(सतीश से) कहाँ हैं पिता जी !

सतीश—थोड़ी देर हुई, कहीं गये हैं।

राजीव—दिवाकर जी विद्यालय गये हैं, एक आवश्यक कार्य से।

निशिकांत—मैं तो विद्यालय से ही आ रहा हूँ। उनको बधाई देने आया था। आचार्य के पद पर उनकी नियुक्ति हुई है।

राजीव—(प्रसन्नता से) जी, सच ? इस शुभ सूचना के लिए आपको अनेक धन्यवाद। (सतीश से) जा माता जी से कह आ; कहना, मिठाई मँगाओ जल्दी। (सतीश का प्रस्थान। निशिकांत से) दिवाकर जी तो समिति का निर्णय जानने ही गये हैं। (कुछ रुक कर) आपका शुभ नाम ?

निशिकांत—मुझे निशिकांत कहते हैं। आगरे में अध्यापक हूँ।

राजीव—वहाँ के कला महाविद्यालय में आप ही उपप्रधान हैं ?

निशिकांत—जी, आपने कैसे जाना ?

राजीव—अभी आप ही की चर्चा दिवाकर जी कर रहे थे। (पत्र उठा कर) आज सफाई करते समय पुस्तकों के बीच में उन्हें आपका दस वर्ष पूर्व का लिखा हुआ यह पत्र मिल गया। इसी प्रसंग में उन्होंने आपके सम्बन्ध में बहुत सी बातें बतायीं।

[निशिकांत पत्र ले लेता है और खोल कर पढ़ने लगता है। पश्चात् कुछ चिंतित-सा हो जाता है।]

निशिकांत—आपका दिवाकर जी से कब से परिचय है ?

राजीव—सात-आठ वर्ष से; वे मुझसे बहुत स्नेह करते हैं। दो घंटे प्रतिदिन हम लोगों की बैठक होती है।

निशिकांत—मेरे सम्बन्ध में कोई विशेष बात कह रहे थे वे ?

राजीव—यही कि आप उनके सहपाठी रहे हैं, उनके उपप्रधान बनाये जाने पर बधाई का यह पत्र भेजा था आपने। फिर आप तो प्रसिद्ध कवि और नाटककार हैं। आपको कौन नहीं जानता ?

निशिकांत—यह पत्र सुनाया था उन्होंने आपको ?

राजीव पत्र तो नहीं सुनाया था उन्होंने।

निशिकांत आप उनके स्नेही मित्र हैं। आप सुन सकते हैं यह पत्र। आइए मैं सुनाऊँ आपको। मैंने लिखा था ' उप-प्रधान के पद पर तुम्हारे नियुक्त होने की सूचना पाकर मुझे इतनी प्रसन्नता हुई, जैसे मुझे ही यह पद मिला हो। इस सफलता के लिए तुम्हें हार्दिक बधाई। मेरे इस पत्र के उत्तर में तुम कोरा धन्यवाद देकर छुटकारा नहीं पा सकोगे। मुझे इस अवसर पर कुछ ऐसा उपहार देना, जो बहुत समय तक मेरे पास रहकर इस शुभ दिन की याद दिलाता रहे। मेरी हार्दिक कामना है कि शीघ्र ही तुम विद्यालय के आचार्य बनो। उस अवसर पर मैं स्वयं उपस्थित होकर तुम्हें बधाई दूँगा, तुम्हारे सभी मित्रों को मिठाई खिलाऊँगा और तुमसे अपनी रुचि का उपहार लूँगा"।

राजीव—बड़ी घनिष्ठता है आप लोगों में।

निशिकांत—घनिष्ठता! वर्षों तक हम लोग साथ रहे, पढ़े, खेले, लड़े झगड़े और फिर ऐसे मिले, जैसे कुछ हुआ ही न हो। हमारी मित्रता आदर्श थी हमारा संबंध आदर्श था। परंतु क्या आप अनुमान कर सकते हैं कि आज मैं उनका प्रतियोगी हूँ ?

राजीव—प्रतियोगी ? कैसे ?

निशिकांत—जिस आचार्य-पद पर उनकी नियुक्ति होने के लिए मैंने शुभकामना भेजी थी, जिसकी बधाई देने को मैं स्वयं लखनऊ आने की बात उनको लिख चुका था उसी के लिए मैंने, स्वयं उनके घनिष्ठ मित्र ने प्रार्थना-पत्र भेजा। क्या आपको विश्वास होता है इसका ?

राजीव—आप भी प्रार्थी थे इस पद के लिए ?

निशिकांत—जी हाँ, मैं भी प्रार्थी था। कोरा प्रार्थी ही नहीं, मैंने लिखा-पढ़ी और दौड़-धूप भी की। और यह सब करते समय भी मैं जानता था कि मेरे पुराने मित्र यहाँ हैं उन्हीं को यह पद मिलना चाहिए। न्याय की ओर से आँख मूँद लीं मैंने।

राजीव—जाने दीजिए इन बातों को, हर व्यक्ति अपनी उन्नति के लिए कोशिश करता है।

निशिकांत हर व्यक्ति? क्षमा करें मुझे। इस घटना के पूर्व मैं अपनी गिनती सामान्य व्यक्तियों में नहीं करता था। अनेक काव्यों और नाटकों की रचना करते समय मानव-जीवन की गुत्थियाँ सुलझाने का प्रयत्न करते हुए अनगिनती आदर्श चरित्रों की जिसने सृष्टि की हो, उसे आप भी सामान्य व्यक्ति नहीं कह सकते। आप क्या, कोई भी ऐसे स्रष्टा को, जिसे अपनी कृतियों पर गर्व हो, सामान्य व्यक्ति नहीं समझ सकता।

राजीव—जीवन में ऐसी विषमताएँ होती ही हैं; आप इसके लिए इतने खिन्न और उद्विग्न क्यों होते हैं?

निशिकांत—उद्विग्नता या आवेश में नहीं कह रहा हूँ मैं यह सब! आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि आदर्श ही नहीं, सामान्य की कोटि से भी आगे चल कर मैं नीचे गिर गया। मैंने अपने प्रिय मित्र से कपट किया। अपना आवेदन-पत्र भेजने की उन्हें कोई सूचना नहीं दी। यद्यपि मैंने स्वय उनकी बुराई नही की, तथापि दूसरों के मुख से उनके लिए बुरा भला सुन कर भी मैंने उसका प्रतिवाद नहीं किया; प्रतिवाद तो दूर, उनके प्रति अनुचित बातें सुन कर इस प्रकार मुसकराता रहा, जैसे स्वयं समर्थन कर रहा हूँ वक्ता का।

राजीव —(बात बदलने के उद्देश्य से) दिवाकर जी को गये काफी देर हुई आये नहीं वे अभी !

निशिकांत —(बाहरी द्वार पर एक दृष्टि डाल कर) आते होंगे। बधाई देनेवालों ने रोक लिया होगा उनको ।

राजीव—मुझसे तो वे जल्दी ही आने को कह गये थे

निशिकांत—(उसकी बात पर ध्यान न देकर) परंतु मेरी आँख कब खुली कुछ अनुमान कर सकते हैं आप ?

राजीव—(मुसकरा कर) भाई साहब, कल्पना तो आप लोगों की प्रियतमा है । हम पर कृपा हो सकती है उसकी भला ?

निशिकांत—(सहास) कल्पना नहीं, वास्तविकता है यह । कई सदस्यों से मिला मैं और सबसे पूछा—दिवाकर जी मिले थे आपसे ? सबने यही कहा – मुझसे तो नहीं मिले । उस समय मुझे ध्यान आया कि सिद्धांत का पक्का यह व्यक्ति न मिलेगा किसी से अपने लिए और न रह सकेगा विद्यालय में, यदि कोई बाहरी आदमी नियुक्त हो गया ।

राजीव—(साश्चर्य) नौकरी छोड़ देते वे किसी अन्य के नियुक्त होने पर ?

निशिकांत – पूछ लीजिएगा उनसे कभी । अच्छी तरह जानता हूँ मैं उनको ।

राजीव—परंतु आपकी नियुक्ति से तो, मेरा खयाल है, प्रसन्नता ही होती उन्हें ।

निशिकांत—अवश्य प्रसन्नता होती । वे मुझे गले लगाते, बधाई देते, मिठाई खाते, उपहार भी माँगते; परंतु कालेज छोड़ देते ।

[दिवाकर का प्रवेश। मुख पर प्रसन्नता की कांति है।]

दिवाकर-(चिक उठाते ही मित्र से) लाइए मिठाई खिलाइए! (निशिकांत को देख कर और आगे बढ़ कर) एं! कब आये तुम? सूचना भी नहीं दी?

निशिकांत—(तुरन्त उठ कर और गले लगाकर) बधाई देने आया हूँ तुम्हे। लिखा था न मैंने कि जब आचार्य होगे तुम, स्वयं आकर बधाई दूँगा (हँसता है)।

[दिवाकर और निशिकांत, दोनों तख्त पर बैठते हैं।]

दिवाकर— कितनी देर हुई तुम्हें आये?

निशिकांत - घंटों हो गये आचार्य जी! मुझे क्या पता था कि नियुक्ति के चक्कर में इतने परेशान हैं आप कि अभी तक दौड़ लगा रहे हैं (फिर हँसता है)।

दिवाकर—(हँसी में उसका साथ देते हुए) आधा घंटा ही तो हुआ मुझे गये यहाँ से।

राजीव—कुछ पता लगा कि समिति के कौन-कौन सदस्य आपके पक्ष में थे और किन्होंने विरोध किया?

दिवाकर—मुझे कुछ पता नहीं; मैं विद्यालय गया ही नहीं। एक मित्र के यहाँ से फोन से पूछ लिया एक सदस्य से। (निशिकांत से) तुम्हें कहाँ पता लगा?

निशिकांत—मैं तो विद्यालय में ही था निर्णय के समय।

राजीव—शाम तक तो पता लग जाएगा आपको?

दिवाकर—संभव है। यों मैं स्वयं मिलूँगा तीसरे पहर दो-एक से। शाम को तो आना होगा तुम्हें। बाजार चलेंगे। (निशिकांत की ओर संकेत करके और हँसकर) इनके लिए एक उपहार का प्रबंध करना है।

निशिकांत—इतने सस्ते छूट जाना चाहते हो ? ऐसा-वैसा उपहार नहीं लेने का इस बार मैं। मेरे लिए तो यह जीवन का सबसे स्मरणीय दिवस है।

राजीव - इसमें भी सन्देह है क्या ? (दिवाकर से) अच्छा अब कुछ मिठाई-विठाई भी खिलाइएगा या यों ही टरकाइएगा ?

निशिकांत—(उठ कर) इस समय तो मिठाई मैं खिलाऊँगा इनकी नियुक्ति की खुशी में। शाम को इनके यहाँ दावत खायँगे डट कर। (हँस कर) कितनी प्रतीक्षा के बाद यह दिन आया है और किन-किन की परीक्षाएँ लेकर !

दिवाकर—(उसे बैठाता हुआ) कहाँ चले तुम ? मिठाई घर में ही होगी।

निशिकांत—मिठाई का आर्डर दे आया हूँ। (राजीव से) आइए आप भी। (दिवाकर की ओर संकेत करके मुसकराता हुआ) भाभी तक तो शुभ संवाद पहुँचा आने दीजिए इन्हें।

राजीव—(हँसता हुआ उठकर) ओह, बिलकुल ठीक कहते हैं आप। मान गया आपको।

[निशिकांत और राजीव द्वार की ओर बढ़ते हैं।]

दिवाकर—यह क्या सूझी तुमको ? तुम्हारी हर बात निराली ही होती है।

निशिकांत—(ठिठक कर) निरालेपन की क्या कमी है जीवन में। और दुनिया तो जिन्दा अजायबघर है—निराली आकृतियाँ निराली प्रकृतियाँ, निराले कार्य ! सब ओर निरालापन ही तो है।

[निशिकांत और राजीव जोर से हँस पड़ते हैं।]

निशिकांत—(पुनः) परन्तु मेरे इस कार्य में क्या निरालापन दिखायी दिया तुम्हें ? मेरी आज की खुशी का अनुमान तुम भी शायद नहीं कर सकते और उसी खुशी में तुम्हें मिठाई खिलाना चाहता हूँ। बस, अभी आये हम लोग।

[दोनों का प्रस्थान। दिवाकर कुछ देर तक सोचता रहता है, फिर आगे बढ़ कर निशिकांत का पुराना पत्र उठा लेता है। पत्र निकालता है, पढ़ता है, फिर कुछ चिंतित हो जाता है। पत्र उसके हाथ में ही है कि रेखा का प्रवेश। मुख पर हास्य खेल रहा है।]

रेखा—कहिए, मैंने कहा था न कि न्याय और सत्य की ही विजय होगी !

दिवाकर—तो यों कहो कि तुम्हारी विजय हुई।

रेखा—अवश्य हुई मेरी, मेरे अन्तर्विश्वास की विजय।

दिवाकर—परन्तु निशिकांत का रहस्य कुछ समझ में नहीं आया। हम लोगों के लिए मिठाई लेने गये हैं !

रेखा—आपके यहाँ आने के पहले बहुत-सी बातें उन्होंने राजीव जी से की थीं। उन्हें सुनकर मेरा जी तो उनकी तरफ से बिलकुल साफ हो गया।

दिवाकर—तब आवेदन-पत्र क्यों दिया था ? जानते तो थे ही कि मैं प्रार्थी हूँ इस पद का।

रेखा—यह सब तो कहा नहीं उन्होंने; परन्तु उन्हें पश्चाताप अवश्य है प्रार्थना-पत्र भेजने का, यही कह रहे थे वे। मुझे तो बहुत भले स्वभाव के जान पड़ते हैं वे।

दिवाकर—यह क्या मैं नहीं जानता ? मैं तो वर्षों साथ रहा हूँ उनके।

रेखा तब क्यों कहते थे आप कि बड़े वैसे आदमी हैं ! वे हो गये तो स्तीफा दे देना पड़ेगा मुझे !

दिवाकर—मुझे स्वयं खेद हो रहा है अपनी उस धारणा पर। खर अब यह सोचो कि इस अवसर पर उपहार क्या देना चाहिए उन्हें।

रेखा—उपहार क्या हो, कैसा हो, यह सब तो आप जाने, परन्तु होना चाहिए वह हमारी आज की प्रसन्नता के अनुरूप ही।

दिवाकर—यही तो मैं भी चाहता हूँ। पर हो क्या ?

रेखा—पिछली बार क्या उपहार दिया था आपने ?

दिवाकर—तुम्हारी सलाह से तो दिया था और तुम्हें ही याद नहीं।

रेखा—एक को उपहार दिया था जो याद होता मुझे। फिर मेरे लिए याद रखने की और भी बातें हैं।

दिवाकर—तब तो एक बढ़िया कलम दिया था। बात यह थी कि वे लेखक हैं और लेखक के लिए लेखनी ही सबसे मूल्यवान होती है।

रेखा—तो इस बार कुछ सुन्दर पुस्तकें दे दीजिए।

दिवाकर—कुछ जँचेगी नहीं।

रेखा—सोने की चेन की घड़ी ?

दिवाकर—उनके पास है।

रेखा—उन्हीं की सब पुस्तकों का एक सेट, अपनी आलोचनात्मक टिप्पणियों के साथ भेंट कीजिए तो कैसा रहे ? यह तो नये ढंग की भेंट होगी।

दिवाकर—चीज तो नयी होगी, परन्तु अवसर के उपयुक्त नहीं। एक तो आलोचना सभी को प्रिय नहीं लगती और दूसरे, उनकी पुस्तकों की आलोचना भी न कर सकूँगा मैं; मेरी उन पर ममता है।

रेखा—उनकी पत्नी के लिए कोई साड़ी ?

दिवाकर—वे उसे खाते में ले लेंगे और फिर कहेंगे मेरा उपहार कहाँ है ?

रेखा—अपनी नयी पुस्तक समर्पित कर दीजिए उन्हें ?

दिवाकर—उसकी पात्री तो तुम हो।

रेखा—तब उन्हीं से पूछिए; कुछ-न-कुछ सोचा अवश्य होगा उन्होंने। उनकी कल्पना विश्राम कब करती होगी ?

[बाहर से आवाज—आचार्य जी ! दिवाकर उधर बढ़ता है। रेखा उधर एक दृष्टि डालकर भीतर चली जाती है। प्रवीण जी का हँसते हुए प्रवेश। दिवाकर भी हँस कर स्वागत करता है।]

दिवाकर—आइए ! आप विद्यालय गये थे ? मैंने तो यहीं एक सदस्य के यहाँ फोन करके पूछ लिया।

प्रवीण– जी हाँ, मै विद्यालय ही गया था । आप सर्वसम्मति से चुने गये हैं ।

दिवाकर– सर्वसम्मति से ? किससे पता लगा आपको ?

प्रवीण– उपमन्त्री जी से । वे तो आपके पक्ष में थे ही । उनसे बहुत-सी और भी बातें मालूम हुईं ।

दिवा र–क्या ? कोई खास बात ?

प्रवीण–जी हाँ, सुना, निशिकांत जी आये हुए हैं ।

दिवाकर–हाँ, वे अभी यहीं थे । बाजार गये हैं जरा । आते ही होंगे ।

प्रवीण यहाँ आये थे वे ! पता लगा कि समिति के एक सदस्य उनसे परिचित हैं । उन्होंने स्वयं निशिकांत जी को आवेदन-पत्र भेजने के लिए प्रेरित किया था ।

दिवाकर—प्रेरित किया था, क्या मतलब ?

प्रवीण—उन्होंने निशिकांत जी से कहा—आचार्य का पद विद्यालय में किसी को नहीं दिया जा सकता; बाहर से ही आदमी लेना होगा । अच्छा होगा कि आप ही आ जायँ । यहाँ आपके कई मित्र हैं । उनसे आसानी से पट जायगी आपकी ।

दिवाकर—तो इसका अर्थ हुआ कि भ्रम में पड़कर निशिकांत ने आवेदन-पत्र भेजा ?

प्रवीण—और क्या ! वे सर्वथा निर्दोष हैं पर खेल का अंत यों

ही नहीं हुआ। निशिकांत जी यहाँ आकर कई सदस्यों से मिले। तब उन्हें वस्तुस्थिति ज्ञात हुई।

दिवाकर—अच्छा! मुझे तो कुछ पता ही न लगा और न मुझसे मिले ही वे पहले।

प्रवीण—आज सबेरे तो आये ही वे। पहले मिले अपने प्रेरक से। उनकी बातों से जब कुछ शक हुआ, तब वे पहुँचे सीधे प्रबंधक जी के पास।

दिवाकर—परंतु हम लोगों में से किसी को लिख कर ठीक ठीक बात जान सकते थे वे?

प्रवीण—यह भूल कैसे हो गयी उनसे, समझ में नहीं आता। परंतु उन्होंने निर्णय के पहले ही अपना आवेदन-पत्र वापस लेकर तुरत बुद्धि और साहस का सुंदर परिचय दिया।

दिवाकर—आवेदन पत्र वापस कर लिया उन्होंने!

प्रवीण—जी हाँ, सारी परिस्थिति समझाते हुए, उन्होंने एक पत्र लिखा कि भूल से मैंने आवेदन-पत्र भेज दिया। मैं उसे वापस चाहता हूँ।

[दिवाकर चिंतित हो जाता है, कोई बात नहीं सूझती उसे। आधे मिनट तक दोनों शांत बैठे रहते हैं। एक बार दोनों की आँखें मिल जाती हैं। दिवाकर का सिर कुछ सोचते-सोचते दो-एक बार हिल जाता है।]

दिवाकर—निशिकांत मेरे मित्र हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध का पूरी तरह निर्वाह कर दिया है।

प्रवीण—इसमें क्या सन्देह है ! समिति के सभी सदस्य उनकी प्रशंसा कर रहे थे।

दिवाकर—मुझे सबसे बड़ा दुःख इस बात का है कि उनके संबध में कितनी गलत धारणाएँ हम लोगों ने बनायी थीं !

प्रवीण—उन्होंने आपको कुछ लिखा नहीं, और आपके लिए वैसी परिस्थिति में कुछ लिखना उचित नहीं था। सारी परेशानी इसी से हुई।

[चिक उठा कर राजीव और निशिकांत का प्रवेश। निशिकांत के हाथ में मिठाइयों के दो बड़े दोने हैं। इन्हें वह दिवाकर की ओर बढ़ाता है। दिवाकर और प्रवीण, दोनों खड़े हो गये हैं। प्रवीण बड़े ध्यान से निशिकांत की ओर देखता है।]

निशिकांत—(हँसते हुए) लीजिए, आचार्य-पद पर अपनी नियुक्ति के उपलक्ष में मेरी ओर से यह मिठाई !

दिवाकर—(संकुचित होकर) इतनी मिठाई ले आये ! इतना खर्च कर डाला तुमने !

निशिकांत—(दोनों दोने दिवाकर के हाथ में रखकर) यह तारीफ अपने पास रखिए। मुझे तो यह बताइए कि कौन सा उपहार सोचा आपने मेरे लिए ?

दिवाकर—उपहार...............जो आप पसन्द करें।

निशिकांत—उपहार पसन्द नहीं किया जाता, आचार्य जी ! पर ख़ैर, इस अवसर के लिए मैंने एक उपहार सोच लिया है। दीजिएगा ?

दिवाकर · अवश्य, निसकोच !

निशिकांत– इस नियुक्ति की कहानी एकांकी-रूप में लिखना चाहता हूँ सच्चे नाम देकर। इसकी अनुमति दे दीजिए।

दिवाकर और प्रवीण—ऐं !

निशिकांत—(गद्गद् स्वर से) हाँ, इस बार यही उपहार चाहता हूँ।

[दिवाकर, प्रवीण और राजीव, तीनों निशिकांत की ओर साश्चर्य देखते हैं। निशिकांत रूमाल से माथे का पसीना पोंछने लगता है।]

—: :❀: :—

श्रमदान

स्थान—

मैजिस्ट्रेट के बँगले में राकेश के पढ़ने का कमरा। लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई क्रमशः १६, १२ और १२ फीट है। पूर्वी दीवार में दो अलमारियाँ हैं जिनके शीशेदार दरवाजों से भीतर की पुस्तकें दिखायी देती हैं। पश्चिमी दीवार में दो सींखचेदार खिड़कियाँ हैं जो गली में खुलती हैं। उत्तरी दीवार के बीच में एक दरवाजा है जो घर में खुलता है। इस पर हथकरघे का नीला परदा पड़ा है। दक्षिण की ओर दो दरवाजे हैं। दोनों पर चिकें पड़ी हैं। भीतर से दाहिनी ओर का द्वार बंद है।

कमरे के बीच में साधारण लंबाई-चौड़ाई की बढ़िया मेज है। उसके उत्तर में एक बढ़िया कुर्सी है, पूर्व-पश्चिम में भी एक-एक और दक्षिण की ओर दो कुर्सियाँ हैं। शीशे की अलमारियों और बाहरी खिड़कियों के नीचे चार-चार कुर्सियाँ हैं। सभी कुर्सियाँ एक ही सेट की हैं और प्रकाश में उनकी पालिश चमचमा रही है। दक्षिणी

दीवार पर घड़ी और उसके नीचे एक सुन्दर कैलेंडर है। लंबाई की दीवारों पर तीन-तीन और चौड़ाई की दीवारों पर दो-दो चित्र टँगे हैं जिनमें पाँच फोटो ग्रुप हैं। छत से बिजली के तीन सुन्दर गोल वल्ब लटक रहे हैं। इस समय केवल मेज का ऊपरी वल्ब जल रहा है।

पात्र—

१ मैजिस्ट्रेट साहब

२ राकेश— मैजिस्ट्रेट का पुत्र।

३ कैलाश नाथ—राकेश का अध्यापक।

४ मणिकांत—राकेश का मित्र।

५ नेता जी— स्थानीय काँग्रेसी नेता

६ शकुंतला
७ प्रियंवदा } स्थानीय बालिकाविद्यालय की छात्राएँ।

८ रामू—मैजिस्ट्रेट साहब का नौकर।

समय—

२६ जनवरी, रात्रि के सात बजे।

[कमरे में अध्यापक कैलाश उत्तरी कुर्सी पर बैठा है। अवस्था लगभग साठ वर्ष। इकहरा बदन। खुलता हुआ रंग। मोटे फ्रेम का चश्मा लगाये। चाँद पर बाल कम हैं; लेकिन सर के दोनों पक्षों के बाल काले ही हैं। बंद गले का पारसी कोट पहने है। उस पर मफलर भी है। धोती, मोजा और नयी काट का पुराना, पर पालिश-दार पंप पहने।

उसके सामने की दोनों कुर्सियों में एक खाली है और दूसरी पर राकेश बैठा है। उन्नीस-बीस वर्ष की अवस्था। गोरा रंग। भरा हुआ चेहरा जिस पर स्वास्थ्य की कांति है। चप्पल, धोती, ऊनी कमीज और स्वेटर पहने है। कुर्सी की पीठ पर उसका शाल पड़ा है। निर्भीक स्वर में अध्यापक से बात कर रहा है।]

राकेश—आज तो पढ़ने की इच्छा नहीं है मास्टर जी! श्रमदान-दिवस था न आज।

कैलाश नाथ—तो कितना परिश्रम कर डाला कि इतना थक गये।

राकेश—(सूखे स्वर से) सारा दिन घूमते बीता। पाँच मील गये आये। कुछ हुआ ही नहीं यह!

कैलाश—इतना तो रोज ही घूमते हो। ठोस काम क्या किया कि पढ़ना भी नहीं चाहते।

राकेश—ठोस काम क्या करते हम (हँसता है) ?

कैलाश—क्यों? ठोस काम के लिए ही तो निश्चित किया गया था यह दिन।

राकेश—होगा; हम लोगों को तो विद्यालय से पाँच मील दूर एक गाँव में जाना था। दो अध्यापक साथ थे और दस विद्यार्थी।

कैलाश—बस ! कितने छात्र हैं तुम्हारे विद्यालय में ?

राकेश —कुल एक हजार छात्र और पैंतालीस अध्यापक हैं। जिन्होंने बाहर जाना स्वीकार किया, ऐसे सिर्फ एक दरजन छात्र निकले। उनमें भी दो बहाना करके रुक गये। पर अध्यापकों को तो आचार्य की आज्ञा का पालन करना ही था

कैलाश बाकी छात्र और अध्यापक क्या करते रहे ? उन्हें तो आदेश था कम से कम दो घटे आज श्रम करने का।

राकेश—आदेश क्या था, यह तो मुझे मालूम नहीं, परंतु यहाँ लौटने पर पता लगा कि बाकी छात्रों में से तीन चौथाई तो आये ही नहीं, एक चौथाई आये भी तो विद्यालय में हो-हुल्लड़ करते फिरे। नौकरों ने जी तोड़कर कमरे, बरामदे, मैदान साफ किये और नाम हुआ लड़कों और अध्यापकों का। हो गया श्रमदान और मना लिया गया श्रम-दान-दिवस।

कैलाश—और तुम्हारी टोली ने क्या किया ?

राकेश—(हँसकर) हम लोग श्रम-दान के लिए कब गये थे ! आपस में तय हुआ कि बहुत दिन से पिकनिक नहीं की है; चलो, इसी बहाने हो जाय। अध्यापक भी पिकनिक के मूड में ही थे।

कैलाश—पैदल गये तुम लोग पाँच मील ?

राकेश—राम कहिए, साइकिलें पास थीं पाँच। 'डबुल लोड' पहुँचे सब। अध्यापकों के पास भी साइकिलें थीं। एक अमरूद के बाग में डेरा डाला। रखवाले को न जाने कैसे सूचना मिल गयी थी हम लोगों के आने की। एक रुपए में दिन भर बारहों आदमियों

ने अमरूद खाये—मीठे-मीठे खाये, फीके फेक दिये। बड़ा आनंद रहा। जलपान के सामान का कालेज की ओर से पहले ही प्रबंध कर दिया गया था।

कैलाश—दैनिक पत्रों में तो निकला था कि तुम्हारे विद्यालय के छात्र कहीं सड़क बनाने जायँगे।

राकेश—गये तो हम लोग सड़क बनाने ही थे और कल या परसों चित्र भी छपेगा हम लोगों का सड़क बनाते हुए (हँसता है)।

कैलाश—चित्र कैसे ! किसी सवाददाता से भेंट हो गयी क्या ?

राकेश सवाददाता की क्या जरूरत चित्र के लिए ? (खिलखिला कर) कैमरा पास था अपने दो हाथ फड़ुआ चलाकर पूरी टोली के चित्र खींच लिये गये अलग-अलग पोजों में। दो-तीन पत्रों में भेज दिये गये हैं और पाँच-सात छपेंगे विद्यालय की मुख-पत्रिका में बड़ी सजधज से।

[मणिकांत का प्रवेश। राकेश की उम्र का युवक। गेहुआ रंग; कसरती बदन। नंगे सर। पूरी बाँह का स्लेटी स्वेटर, पूरी आस्तीन की कमीज और गबर्डीन की पतलून पहने। मोजे-जूते भी कसे चाल-ढाल से निश्चितता प्रकट होती है। गले के मफलर के दोनों सिरों को हाथ से पकड़े और यज्ञोपवीत की तरह डाले। चिक उठाते-उठाते ही कैलाश को देखकर हाथ जोड़ता है।]

कैलाश - आओ मणिकांत ! तुम्हारे विद्यालय में तो शायद विशेष शिक्षाधिकारी निमंत्रित थे आज श्रम दान-समारोह का उद्घाटन करने के लिए ?

मणि०—जी हाँ, आये थे वे।

कैलाश—तो कैसे मनाया तुम लोगों ने यह दिवस ? क्या-क्या काम किया ?

मणि०—काम ! (हँसकर) हाथी के दाँत खाने के और होते हैं दिखाने के और।

कैलाश—क्या मतलब ?

मणि०—मतलब यही कि सब विद्यार्थी कायदे से कमीज और नेकर पहन कर ग्यारह बजे आये। शिक्षाधिकारी के आने से पूर्व उनको काम बाँटा और समझाया गया। पश्चात् रिहर्सल हुआ और उनके मोटर से उतरते ही नाटक शुरु हो गया।

कैलाश—नाटक ! क्या कह रहे हो ?

मणि०—जी, ठीक कह रहा हूँ। पंद्रह-बीस मिनट वे रहे। फोटो खिची, जलपान हुआ और वे चले गये। उनके बाद हम लोग भी चले आये।

कैलाश—(कुछ खिन्नता से) खूब श्रमदान-दिवस मनाया तुम लोगों ने ?

मणि०—सुनिए तो; लड़कों ने दस-पाँच मजदूरों का भला तो किया ही। जो कुछ उन्होंने अपने अथक श्रम से आज बिगाड़ा है, उसे ठीक करने के लिए कल दस-पाँच मजदूर लगाने पड़ेंगे।

[कैलाश बाबू कुछ सोचने लगते हैं। राकेश और मणिकांत मुसकराते हुए एक दूसरे की तरफ देखते हैं।]

राकेश—रामू ! जरा पानी तो दे जा।

[नेपथ्य से आवाज—अभी लाया, भैया ।]

कैलाश पिता जी नहीं आये अभी ?

राकेश —(हँसकर) उनके यहाँ भी श्रमदान-दिवस मनाया गया होगा आज। सवेरे कपड़े पहनते जाते थे और झींखते जाते थे। आते ही होंगे। देखिए, कैसी-कैसी सुनाते हैं।

[रामू का प्रवेश। शीशे के जग में पानी लिये है। कैलाशबाबू और राकेश पीते हैं; मणिकांत नहीं लेता।]

कैलाश मैं तो खाना खाते समय पानी पीता नहीं बिलकुल। इसीलिए एक घंटे बाद जरूरत पड़ती है मुझे पानी की।

मणि०—इस जाड़े में भी ?

कैलाश—कोई भी ऋतु हो; खाना खाने के कुछ देर बाद दो एक गिलास अवश्य पीता हूँ। गर्मी में तो आध घंटे बाद ही इच्छा हो आती है ?

मणि —इससे कोई लाभ होता है ?

कैलाश - यह क्रम स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है। कम पानी पीना या भोजन के साथ पानी पीना ठीक नहीं होता।

राकेश—(रामू से) क्यों रे ! दिन भर कहाँ रहा आज ?

रामू—भैया, आठ बजे सवेरे आवत रहिन कि गाँवैं माँ मोटर पै मोटर आवैं लगीं। सब घबराये कि का बात है। फिर मोटरन तें साहब लोग उतरे। सारा गाँव इकट्ठा होइगा। हमका सब कोई रोक लिहिन।

राकेश—क्या किया उन लोगों ने ?

रामू का कही भैया ! हैट-क्राट टाँग-टूँग, फरुहा लैके जुटिगे वे सब कामैं मैंहाँ और खोद-खोद माटी ढेर कै दिहिन छिने भरे माँ।

मणि०—और तुम लोग खड़े तमाशा देखते रहे ?

रामू तमासा का बाबू ! साहब लोग गाँव वालन तें बुलाय के कहिन; यहाँ सरक बनिहै अबहीं। जुटि जाओ तुमहूँ सब तब हमहूँ काम करै लगेन।

राकेश—(अध्यापक की ओर देखकर रामू से) कितनी देर तक काम किया उन सब लोगों ने ?

रामू दुई-तीन घंटा सब रहे हुँआँ। फिर चाय बनी। मिठाई बटी। कुछ फल हमहूँ लोग तोड़िकै पेस करेन। तब सब लोग चलेगे।

मणि०—तो दो घंटे काम करते रहे वे ?

रामू राम कहो भैया ! दुइ घंटा वे का कै सकत रहे। कलम के घिसैया फरुहा पकरब का जानैं। खिलवार करत रहे थोरी देर। एक फरुहा उठाइस, दूसर डलिया माँ मिट्टी लिहिस। दूनों की फोटू खींच लीन गे। तब तीसर फरुहा पकरिस और लगा फोटू खिचवै. यही होत रहा।

राकेश–तब काम क्या हुआ ?

रामू काम सब उनके खानसामा किहिन।

राकेश—और तू मिठाई के लिए वहाँ रुका रहा ?

रामू भैया, घर वाले आवै नाहिं दिहिन और हमहूँ तमासा देखै लागिन। कोट-पतलून डाटे साहब लोग फरुहा पकरे अस लगत रहे कि का कहीं। उनका देखिकै सब मजदूर घबराय लाग कि हमार

गाजी जवैया है का ? मुला बाद माँ समुझिगे कि सरकार उनका मरमदान करै भेजिस रहै।

[सब हस पड़ते हैं। रामू भी सकुचानी हँसी हँसता है।]

राकेश—बड़ा बातूनी हो गया है। जा, पान ले आ।

[रामू का प्रस्थान। कैलाश बाबू अब भी मुस्करा रहे हैं।]

मणि०—क्या मजाक सूझा है हमारी सरकार को भी।

कैलाश—यह बात नहीं है। जरा इस बात पर दूसरी दृष्टि से विचार करो। रामू की बातें बड़े काम की हैं।

राकेश—यही न कि हमारे साहब लोग हाथ का काम नहीं कर सकते ?

कैलाश—यह नहीं, हमारा बाबू वर्ग यह समझता है कि सिर्फ कलम घिसना ही हमारा काम है और मजदूर समझते हैं कि हम डलिया ढोने को पैदा हुए हैं। अपद श्रमिक तो अपनी सीमा के बाहर जा ही नहीं सकते, पर साहब लोग समझने लगे हैं कि हाथ से काम करना हमारी शान के खिलाफ है। किसी भी समाज के लिए इस प्रकार की मनोवृत्ति अच्छी नहीं होती।

मणि०—बाबुओं की बात जाने दीजिए; हम लोगों को भी हाथ से काम करते शर्म मालूम पड़ती है।

केलाश—पर यह कोई अच्छी बात थोड़े ही है।

मणि०—साहब, अच्छी हो या बुरी, दूसरों की तो मैं क्या कहूँ, मुझे ही जब हाथ से काम करना पड़ता है तो डर लगा रहता है कि कहीं कोई देख न ले। (हँसकर) उस दिन घर से बाजार गया एक

सूटकेस ठीक कराना था। भारी वह पाँस सेर भी नहीं था, लेकिन मुझे वह बोझ लग रहा था। गनीमत हुई कि रास्ते में कोई परिचित न मिला।

कैलाश—तो बाजार से साग-सब्जी लाते भी सकुचाते होगे ?

मणि०—सकुचाना ! मुझे इतनी शर्म मालूम पड़ती है कि कभी ऐसे झंझटों में पड़ता ही नहीं नमक-रोटी मुझे मजूर है, लेकिन................।

[रामू का पान लेकर आना। कैलाश बाबू पान लेते हैं। मणिकांत और राकेश इलायचियाँ ; तश्तरी मेज पर रख दी जाती है। दो छात्राओं का द्वार पर दिखायी पड़ना। सब उस ओर देखने लगते हैं।]

एक छात्रा—जी, हम लोग भीतर आ सकती हैं ?

कैलाश—आइए, आइए।

[दोनों छात्राओं का प्रवेश। लगभग उन्नीस-बीस वर्ष की अवस्था। गोरा रंग। नाक-नकस सुन्दर। इकहरा बदन। दोनों सुनहरा चश्मा लगाये हैं। चप्पल, साड़ी और ऊनी कोट पहने। दोनों के पास शाल भी है। एक के हाथ में दफ्ती का छोटा डिब्बा है और दूसरी के रूमाल जिसमें कुछ बंधा है। जिसके पास डिब्बा है, उसका कद दूसरी से कुछ लंबा है। दोनों के मुख पर सरल शांति और दृष्टि में सतेज सतर्कता है।

उनके प्रवेश करते ही राकेश और मणिकांत उठकर मेज की अलग-बगल की कुर्सियों पर बैठ जाते हैं। कैलास बाबू के सामने की कुर्सियाँ खाली हो जाती हैं।]

कैलाश—(खाली कुर्सियों की ओर संकेत करके) विराजिए।

[दोनों छात्राएँ कुर्सियों पर बैठती हैं। एक बार राकेश और मणिकांत पर दृष्टि डालकर दोनों कैलाशनाथ की ओर देखने लगती हैं। कैलाश बाबू पान की तश्तरी हाथ में लेकर उन दोनों की ओर बढ़ाते हैं। वे इलायचियाँ ले लेती हैं। उनके दाँतों की स्वच्छता से जान पड़ता है कि वे सचमुच पान नहीं खातीं।]

कैलाश—आपने पान नहीं लिये ?

एक—जी, हम लोग पान नहीं खातीं।

कैलाश—हवा से आ रही हैं आप। चाय तो पियेंगी ?

राकेश—रामू ! चाय ले आ जल्दी।

दूसरी—धन्यवाद ! इतना कष्ट क्यों कर रहे हैं ? हमारा काम एक मिनट में खत्म हो जायगा।

कैलाश—कहिए, कैसे कष्ट किया ?

एक—आज श्रमदान-दिवस है न ! उसी संबंध में आयी हैं आपकी सेवा में।

[पहली छात्रा रूमाल की पोटली मेज पर रखती है और खोलकर उसमें से तीन झंडे निकालती है। कैलाश बाबू, राकेश और मणिकांत को वह एक-एक झंडा क्रम से देती है। वे लोग कभी झंडे को देखते हैं, कभी उन दोनों की ओर। छात्रा पहले की तरह रूमाल बाँध लेती है।]

एक—आज श्रमदान-दिवस पर हम लोग विद्यालय की ओर से झंडे बेचने निकली हैं। इनसे प्राप्त धन निर्धन छात्राओं के लिए

पुस्तकालय बनाने में व्यय किया जायगा । आशा है, आप सब यथाशक्ति सहायता देने की कृपा करेंगे ।

[दूसरी छात्रा दफ्ती का एक साधारण डिब्बा सामने रखती है । डिब्बा सब तरफ से बंद है । ऊपर रुपए के बराबर एक छेद है । एक बार राकेश और मणिकांत की ओर देखकर वह उठकर कैलाश बाबू के सामने डिब्बा खिसका देती है ।]

कैलाश—आप कहाँ पढ़ती हैं ?

दूसरी—जी, बालिका विद्यालय में—बी० ए० प्रथम वर्ष में ।

कैलाश—बड़े सुन्दर झंडे हैं ये ? क्या मूल्य है इनका ?

पहली—एक आने से लेकर जितना आप उचित समझें । निर्धन बालिकाओं की सहायता का कार्य है ।

मणि०—आपके विद्यालय की सभी छात्राओं को झंडे दिये गये हैं आज बेचने के लिए ?

पहली—जी नहीं, मैदानों की सफाई, दीवारों, बरामदों फर्शों और छतों की सफाई, नये वृक्ष लगाना, पुरानों को सींचना, झंडे बेचकर निर्धन छात्राओं के लिए धन और पुस्तक संग्रह करना आदि दस-बारह कामों की सूची में से कम से कम एक काम प्रत्येक छात्रा को चुनना था ।

कैलाश—झंडे बेचना ही इनमें सबसे कठिन था । कितनी तैयार हुईं इस कार्य के लिए ?

पहली—जी, एक कक्षा से दो-तीन, बस ।

कैलाश—क्षमा कीजिएगा, हम लोग आपका अधिक समय ले रहे हैं आपको जल्दी तो नहीं है ?

पहली—नहीं, नहीं, हमें जल्दी नहीं है। आप हमारी बातें ध्यान से सुन तो रहे हैं।

दूसरी—नहीं तो किसी ने कहा—एक आना इस झंडे का मूल्य है; यदि हम एक रुपया दें तो पंद्रह आने किसकी जेब में जायँगे जब आप रसीद नहीं देतीं ?

पहली—और एक सज्जन बोले—यह दफ्ती का डिब्बा (डिब्बा उठाकर उलट-पलट कर दिखाती है) जरा से गोंद से चिपका है। इसे खोलकर रकम उड़ा देना क्या मुश्किल है !

दूसरी—जी, एक तीसरे महाशय ने तो यह भी रिमार्क कसा—दुनिया कितनी चालाक है कि कैसा भी मौका हो, कमाने का कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेती है ?

राकेश—(सावेश) आपने फटकारा नहीं उन लोगों को ?

दूसरी—(मुसकराकर) हमने मौन रहना ही ठीक समझा।

मणि—परंतु आपके मौन से तो उनका संदेह ही पुष्ट हुआ होगा और उन्हें निश्चय ....।

पहली—क्षमा कीजिएगा तर्क से कुतर्क पैदा होता है, विश्वास नहीं।

कैलाश—एक बात और है। मनुष्य की मनोवृत्ति का निर्माण मूलतः उसके संस्कार और वातावरण से होता है। दूसरे के चरित्र की

व्याख्या जब कोई साधारण व्यक्ति करता है तो समझ लीजिए कि परोक्ष रूप से अपनी ही मनोवृत्ति की आलोचना वह कर रहा है।

पहली—परंतु इसके अपवाद भी तो होते हैं।

कैलाश—अवश्य होते हैं जो आदर्शवादिता की झोंक में उपदेशक बन जाते हैं अथवा जो भाव-गोपन में बहुत कुशल हो जाते हैं या जिनके मन, वचन और कर्म में एकता नहीं होती। परंतु इनकी गणना सामान्य व्यक्तियों में नहीं की जा सकती; ये लोग तो बहुत पहुँचे हुए होते हैं।

[सब हँस पड़ते हैं। रामू चाय लाता है। दोनों छात्राएँ स्वतः चाय बनाने लगती हैं। राकेश और मणिकांत सहयोग देते हैं। सब पीते हैं।]

कैलाश—आपने परिचय नहीं दिया ?

पहली—(अपनी सखी की ओर संकेत करके) इनका नाम प्रियंवदा है। इनके पिता जी प्रयाग के एक विद्यालय में आचार्य हैं। मेरे पिता जी स्थानीय विश्वविद्यालय में रीडर हैं। मुझे शकुन्तला कहते हैं।

कैलाश—तब तो आप दोनों का साथ बहुत पुराना है।

[सब हँस पड़ते हैं]

कैलाश—बड़ी प्रसन्नता हुई आपसे मिलकर। ये दोनों, राकेश और मणिकांत इंटर के विद्यार्थी हैं। (दोनों हाथ जोड़ते हैं; छात्राएँ भी वैसा ही करती हैं) मैं मुदर्रिस था, पिछले वर्ष रिटायर हुआ; मेरा नाम कैलाशनाथ है। (दोनों युवतियाँ पुनः हाथ जोड़ती हैं)।

राकेश—आपके विद्यालय में कितने वृक्ष छात्राओं के लगाये हुए हैं ?

प्रियंवदा—दो दरजन पुराने हैं और एक दरजन इस वर्ष के।

राकेश—सब हरे-भरे हैं ?

प्रियंवदा—जी हाँ खूब हरे-भरे हैं सब।

राकेश—(साश्चर्य) हमारे यहाँ तो एक भी नहीं जमा, यों लगाये तो गये थे चार दरजन !

मणि०—इतने ही हमारे यहाँ भी लगाये गये थे। दो-तीन ही खड़े हैं अब। चार पाँच माली हैं, बिजली का पंप है, फिर भी न जाने क्यों नहीं लग सके हमारे लगाये पेड़।

शकुंतला—हमारे माली फूलों की क्यारियों और बड़े मैदानों की देख-भाल करते हैं; नये पेड़ों का भार उन पर नहीं है। उन्हें तो छात्राएँ ही बारी-बारी से सींचती हैं।

प्रियंवदा—क्षमा कीजिएगा (कुछ मुसकराकर अध्यापक की ओर देखते हुए) अपने लगाये हुए वृक्षों की जितनी ममता हमें हो सकती है, उतनी किराये के मालियों को नहीं।

मणि०—(उसकी भावुकता न समझकर) हमारे माली दिन भर तो मटर-गश्ती करते हैं, परंतु जब आचार्य उधर से निकलते हैं तो एक हाथ में खुरपी और दूसरे में कुछ घास-फूस और कंकड़ लिये ऐसी मुद्रा से खड़े होकर सलाम करते हैं जैसे बेचारे दिन भर काम करके चूर हो गये हों।

[सब हल्की हँसी हँसते हैं]

शकुंतला—अब आज्ञा दीजिए; हम लोगों को कुछ झंडे अभी और बेचने हैं ।

कैलाश—हाँ हाँ, आपको बड़ी देर हुई। (जेब से एक रुपया निकालकर) मेरे झंडे का यह मूल्य स्वीकार करें (राकेश और मणिकांत को संकेत करके रुपया शकुंतला की ओर बढ़ाता है) ।

शकुंतला—(डिब्बा आगे बढ़ाकर) कृपा करके स्वयं इस डिब्बे में डाल दें ।

[कैलाश अपना नोट मोड़कर डिब्बे में डाल देता है । राकेश और मणिकांत भी वैसा ही करते हैं]

प्रियंवदा – (खड़ी होकर) आप लोगों को धन्यवाद। झंडे में पिन है कृपा करके इसे कोट और स्वेटर में लगा लें ।

कैलाश - (कोट में झंडे को पिन करता हुआ) आप इस घर के लोगों से परिचित हैं ?

प्रियंवदा—जी नहीं। ५०० झंडे मिले हैं प्रत्येक छात्रा को। सात दिन में इन्हें बेच देना है । एक दिन का कोटा ८० रखा है हम लोगों ने । इस बँगले में मैजिस्ट्रेट साहब का बोर्ड देखा और सामने के कमरे में आप लोग थे । इसलिए आने का साहस किया। (हाथ जोड़कर) आशा है, धृष्टता क्षमा करेंगे ।

शकुंतला—मैजिस्ट्रेट साहब के दर्शन नहीं हुए; नहीं तो दो-एक झंडे और बिक जाते। (मुसकराकर) आज के कोटे में १५–१६ झंडे और बचे हैं ।

राकेश—पिता जी को भी श्रमदान के प्रसंग में ही आज देर हुई है; नहीं तो अब तक वे रोज आ जाते थे ।

प्रियंवदा—उनके दर्शन फिर किसी दिन करेंगी आकर। हाँ, आपके पड़ोस में कौन-कौन सज्जन रहते हैं ?

राकेश—विश्वविद्यालय के दो अध्यापक हैं, दो एडवोकेट और नगर काँग्रेस कमेटी के प्रधान।

[प्रियंवदा शकुंतला की ओर देखती है। शकुंतला चलने का संकेत करती है।]

कैलाश—(राकेश से) उनके मकान तक पहुँचा दो इन्हें।

[दोनों युवतियाँ 'नमस्कार' करके जाती हैं। राकेश भी उनके साथ हो लेता है।]

मणि०—(प्रभावित-सा होकर) इन्होंने तो खूब काम किया !

कैलाश—तुम लोगों ने रुचि ही नहीं ली इन कामों में, नहीं तो इनसे बढ़कर काम कर सकते थे।

मणि०—सारा विद्यालय इनका चमक गया होगा आज, पर हमारे यहाँ और भी गंदगी फैल गयी।

कैलाश—तुम्हारे यहाँ राजकीय निर्देशों के आने पर खानापुरी कर दी गयी; इन्होंने उनको कार्य-रूप दिया।

मणि०—हमारे आचार्य जी तो राजनीति में खूब भाग लेते हैं। राकेश के आचार्य जी भी बहुत परिश्रमी हैं। लिखते वे इतना अच्छा हैं कि सभी सामयिक विषयों पर उनके लेख रुचि से पढ़े जाते हैं। इसी 'श्रमदान' के संबंध में उनके कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

कैलाश—किसी की परिश्रम-शीलता में मैं सन्देह नहीं करता; परन्तु

ऊपर से आनेवाली योजनाओं में सहयोग देना और बात है, लेख लिखना और।

मणि०—मैं समझा नहीं आशय आपका।

कैलाश—बात यह है कि हमारे देश में पुरुष-वर्ग शासक है और हमारी संस्कृति में नारी-वर्ग एक प्रकार से शासित रहा है। स्वभावतः पुरुष आलोचक और छिद्रान्वेषी होते हैं, परंतु नारियाँ विश्वासमयी। राजकीय आज्ञाओं और निर्देशों का पालन अधीनस्थ क्षेत्रों में दोनों को करना पड़ता है, परंतु उक्त मनोवृत्ति के फलस्वरुप समान सफलता दोनों को नहीं मिल सकती।

मणि०—तो क्या पुरुष को सदैव असफलता और नारी को सफलता ही मिलेगी इस क्षेत्र में?

कैलाश—नहीं, रचनात्मक कार्यों में पुरुष जब विश्वास के साथ लगता है तब वह भी सफलता पाता है और नारी जब कोरी आलोचक बन जाती है तभी असफल हो जाती है।

मणि०—तो यों कहिए कि आलोचना ही असफलता और बुराई की जड़ है?

कैलाश—यह बात भी नहीं है। शुद्ध भाव से की गयी आलोचना का परिणाम सदैव सुखकर होता है। परंतु अपने सत्ताधारी समवर्गियों की आलोचना हम लोग प्रायः शुद्ध भाव से नहीं करते और इस प्रसंग में हमारा स्वार्थ प्रबल हो जाने के प्रत्यक्ष और परोक्ष कई कारण होते हैं।

मणि०—(कुछ सोचता हुआ) पर आखिर उद्देश्य क्या है इस श्रम-दान-योजना का?

कैलाश—जहाँ तक मेरी समझ में आता है, इसका उद्देश्य बिलकुल सीधा है। शताब्दियों की पराधीनता से हमारा जीवन एकांगी हो गया है और श्रम से··· ··· ··· ····।

मणि०—(बात काटकर) क्षमा कीजिएगा एकांगी से क्या तात्पर्य है आपका ?

कैलाश—वही कह रहा हूँ। आज जीवन के प्रति हमारी दृष्टि सकुचित हो गयी है। हममें जो उच्च वर्ग में समझे जाते हैं उनमें से कुछ केवल बौद्धिक उन्नति में जीवन की सफलता समझते हैं, दूसरे सोते-सोते भी मूल्यों के उतार-चढ़ाव का स्वप्न देखते हैं, कुछ पैसे को प्रत्यक्ष भगवान समझते हैं कुछ सातवें आसमान में ही उड़ा करते हैं। अपनी अपनी आपाधापी में लीन ये सभी संसार की अधिक से अधिक सुविधाएँ अपने लिए चाहते हैं; लेकिन वे प्राप्त होती हैं उनको, दूसरों को ठगकर दूसरों का भाग हड़पकर। परिश्रम से इन सबको चिढ़ है।

मणि०—आपने तो बड़ी कड़ी बात कह दी !

कैलाश—सत्य हमेशा कटु होता है। समाज के सामने ही ये श्रम का उपहास करते हैं; लेकिन समाज इन्हीं का आदर करता है; इन्हीं के कदमों पर चलना चाहता है। तो इस योजना का उद्देश्य है उच्च वर्ग में फैले हुए इस संक्रामक रोग से समाज के होनहारों और नौनिहालों की रक्षा करना। नयी पीढ़ी में श्रम के प्रति प्रेम के जाग्रत होने पर ही समाज का कल्याण संभव होगा।

मणि०—क्या विदेशों में भी लोगों को श्रम से चिढ़ है ?

कैलाश—विदेश में बड़े से बड़ा आदमी अपने जूतों में स्वयं पालिश करके गर्व का अनुभव करता है; हमारे यहाँ अपना जूता

खोलना-पहनना भी भार है। वहाँ लोग क्यारियाँ बनाने और पौधे सींचने में गौरव समझते हैं, हमारे यहाँ मिट्टी छूने से शान में बट्टा लग जाता है। इसी तरह की और सब बातें समझ लो।

मणि०—तो क्या यह मनोवृत्ति सप्ताह में घंटे-दो घंटे काम करने से ही बदल जायगी ?

कैलाश—पूरी तौर से नहीं; लेकिन इतना अवश्य हो जायगा कि श्रम से घृणा करनेवालों की संख्या नहीं बढ़ेगी। सो भी तब जब तुम लोग इसका महत्त्व समझोगे और उसमें पूरा योग दोगे।

[थके-माँदे मैजिस्ट्रेट साहब का प्रवेश। साथ में नगर काँग्रेस कमेटी के प्रधान हैं। कैलाशनाथ और मणिकांत खड़े होकर 'नमस्कार' करते हैं। मैजिस्ट्रेट साहब जरा सा हाथ उठाकर और नेता जी हाथ जोड़कर उत्तर देते हैं।

कैलाशनाथ अपनी कुर्सी छोड़कर मणिकांत के सामनेवाली कुर्सी के समीप खड़े हो जाते हैं। मैजिस्ट्रेट साहब मन ही मन सकुचाते हुए, संकेत से नेता जी को कैलाशनाथ की कुर्सी पर बैठने को कहते हैं। नेता जी बिना आनाकानी किये उस पर बैठ जाते हैं। मैजिस्ट्रेट साहब उनके सामने की कुर्सी जरा खिसका कर बैठते हैं। कैलाशनाथ और मणिकांत भी बैठते हैं।

नेता जी की अवस्था पचपन वर्ष की होगी। गोरा रंग। दोहरा बदन। चेहरा खूब भरा और लाल। आँखें छोटी, कुछ भूरी, पर तेज काले फ्रेम का चश्मा चढ़ाये। बाल खिचड़ी, पर हैं बड़े बड़े जो खद्दर की टोपी के बाहर निकले हैं। ऊनी मोटा कुरता और कत्थई जवाहर वास्कट पहने। कत्थई, ऊनी, काश्मीरी शाल कंधे पर डाले।

धोती खद्दर की। जूता भी कत्थई, न्युकट जिस पर धूल की एक पर्त पड़ गयी है।

मैजिस्ट्रेट साहब लंबे, गोरे, इकहरे बदन के आदमी हैं। अवस्था पचपन की ही है; लेकिन दोनों कनपटियों के बाल बिलकुल सफेद और चाँद के सफाचट होने से साठ के भी ऊपर जान पड़ते हैं। बढ़िया सर्ज का डबुल ब्रेस्ट सूट पहने और टाई बाँधे। कोट की ऊपरी बाहरी जेब में दो पेन लगे हैं। जूता डोरीदार। बैठते ही जेब से केस निकाल कर ऐनक लगा लेते हैं।]

मैजि०—कैलाश जी, आज दिन भर मजदूरी की है मैंने।

कैलाश—(साश्चर्य) आपने मजदूरी की !

मैजि०—जी हाँ, दिनभर फड़ुआ चलाया है मैंने कोट पतलून पहने-पहने।

नेता—तब तो आज का दिन सार्थक हो गया आपका। देश की उन्नति में आज ही तो सच्चा योग दे सके आप। आज ही तो राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का पालन किया है आपने।

मैजि०—(कृतज्ञतापूर्वक नम्र स्वर में) यह सब तो ठीक है, पर जोड़-जोड़ दुख रहा है मेरा। न जाने किस तरह पहुँच सका हूँ यहाँ तक।

नेता—आपके इस आदर्श से शिक्षा मिलेगी इन (मणिकांत की ओर संकेत करके) बच्चों को। हमको और आपको तो जो कुछ करना था, कर चुके; अब तो इन्हें ही तैयार होना है।

कैलाश—ठीक है, स्वतंत्रता का आनंद तो ये ही लोग भोगेंगे।

नेता—यही तो कहता हूँ। मुझी को देखिए। सबेरे सात

बजे गया था घर से, अब लौटा हूँ। न जाने कितने गाँवों का चक्कर काटा, कितनी संस्थाओं के कार्यों का निरीक्षण किया। थोड़ा-बहुत हर जगह कहना ही पड़ा कि अब मुहँ से शब्द भी निकालने की इच्छा नहीं होती। दौड़ते-दौड़ते छाले पड़ गये पैरो में। परन्तु मैजिस्ट्रेट साहब जैसे बुजुर्ग का उत्साह देखकर जैसे सारी थकावट और परेशानी दूर हो गयी है मेरी।

मैजि०—(सविनय) सब कृपा है आपकी। परन्तु क्या अभी भोजन नहीं किया है आपने ? (जोर से) रामू !

नेता—कोई तकलीफ करने की जरूरत नहीं है; अब तो घर पर ही निवृत्त होकर भोजन करूँगा।

[रामू का प्रवेश। वह बड़े अदब से खड़ा हो जाता है।]

मैजि०—अच्छा तो चाय सही।

[रामू को संकेत करता है। वह जाता है।]

नेता—धन्यवाद। (हँसकर) आज तो आपकी बातों से ही सारी भूख मिट गयी। आपकी तरह ही भारत के दश प्रतिशत व्यक्ति अगर राष्ट्रीय उत्थान के इस कार्य में जुट जायँ तो भारत न जाने कहाँ से कहाँ पहुँच जाय। मैं आपके अफसर से इस सेवा की चर्चा करूँगा।

मैजि०—मैंने किया ही क्या है ....वह तो मेरा कर्तव्य था।

मणि०—तो क्या इस श्रमदान का देश के उत्थान से कोई संबंध है ?

नेता—यही तो समझना है तुम नवयुवकों को। बड़े-बड़े पोथों में न जाने क्या पढ़ते हो तुम लोग ! कितना मोटा हिसाब है कि पचीस

करोड़ स्त्री-पुरुष अगर सप्ताह में एक घंटा देश की सेवा का काम कर दें तो पाँच करोड़ रुपए की बचत हो सकती है—महीने में बीस करोड़ और साल में लगभग ढाई अरब रुपया बच सकता है।

[रामू का चाय लिए प्रवेश। मैजिस्ट्रेट साहब, कैलाश बाबू और मणिकांत चाय बनाते हैं। नेता जी कुछ सहयोग देने को हाथ तो बढ़ाते हैं, पर सिवाय प्याला-तश्तरी इधर-उधर करने के और कुछ उनसे नहीं होता। सब पीते हैं।]

मैजि०—ठीक कहते हैं आप। एक घंटे काम का इतना मूल्य होगा, यह तो हमने कभी सोचा ही नहीं था।

नेता—लेकिन आपने इसमें योग तो दिया। यह जमाना बात करने का नहीं, काम करने का है। परंतु आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि विश्वविद्यालयों के जिन अध्यापकों पर हमारे नवयुवकों के शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास का दायित्व है, वे ही इस हिसाब की हँसी उड़ाते हैं।

मैजि०—(तटस्थ भाव से) हिसाब तो बिलकुल सीधा-सादा है; इसमें हँसी उड़ाने की क्या बात है ?

नेता—पूछिए इन भलेमानसों से जो अपने को बुद्धि का ठेकेदार समझते हैं। (स्वर बदलकर) मेरे एक पड़ोसी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं। हिसाब का यह ब्योरा सुनकर बोले—'क्या दूर की सूझती है आप लोगों को ! विद्या-बुद्धि के केंद्र-संचालकों के एक घंटे की तुलना आप कुली-मजदूरों के समय से कर रहे हैं। खूब !' मेरे तो इतना सुनते ही जैसे आग लग गयी और मैंने खूब लताड़ा इस पर उन्हें।

मैजि०—(कैलाश बाबू की ओर ससंकोच देखते हुए) बात

यह है कि अध्यापकों की भी निजी कठिनाइयाँ और समस्याएँ हैं; परंतु खैर, घंटा, दो घंटा श्रम तो करना ही चाहिए सबको।

नेता—यही तो मैं भी कहता हूँ: लेकिन सरस्वती के इन सपूतों के दिमाग में धँसे कैसे बात यह। लोग आज कल की शिक्षा-प्रणाली को दोष देते हैं। मैं कहता हूँ, हमारे अधिकांश अध्यापक ही निकम्मे हैं। खुद कुछ करते-धरते नहीं, (मणिकांत की ओर देखकर) हमारे होनहारों को भी चौपट किये दे रहे हैं।

मैजि०—यह तो बिलकुल सच है कि हमारे नवयुवक आज श्रम से जी चुराने लगे हैं।

नेता—परंतु इसमें उन बेचारों का क्या दोष है? वे जैसा देखते हैं, वैसा ही करते हैं। (सहसा मणिकांत से, मैजिस्ट्रेट की ओर संकेत करके) अगर ये आपसे सीखें, शिक्षा लें········ (एक घूँट भरकर) मुझे देखो, कितनी धूल चढ़ी है हाथ-पैरों में। न जाने कितनी जगह व्याख्यान दिये दिन भर में। फिर भी जैसे जोश समा नहीं रहा है शरीर में कहिए, रात भर देश-सेवा के नाम पर घूमता रहूँ. दिन भर व्याख्यान देता रहूँ।

कैलाश—क्षमा कीजिएगा; सभी नेता भी तो आपकी तरह नहीं हैं।

नेता—मानता हूँ आपकी बात। किसी को दावत की चाह है, किसी को फोटो खिचाने की। कोई पद के लिए ललक रहा है, कोई अधिकार के लिए मचल रहा है। और सब इसी बात के लिए हाथ-पैर मार रहे हैं कि किसी तरह प्रधान मंत्री की दयादृष्टि हो जाय हम पर एक बार। मैं तो इनको नेता नहीं मानता। सच जानिए, कोरे मक्कार हैं ये लोग।

कैलाश—और अपने को देश-सेवक समझते हैं ?

नेता—देश-सेवक या देश के मालिक ? न कुछ समझते हैं न बूझते हैं; बस अपनी ही अलापा करते हैं। जरा इनसे श्रमदान का मतलब ही बूझ देखिए। न जाने क्या अंटसंट बकने लगेंगे और उस पर अपने को नेता कहते हैं साहब !

कैलाश—पर सब आदमी चोटी के होते भी तो नहीं किसी समाज या संस्था में।

नेता—(संतोष के साथ) तो जहाँ हो, वहाँ रहो तो। आज की ही बात लीजिए। दस-बारह जगह खाने - पीने का प्रबन्ध किया गया था मेरे लिए। मैंने तो वहीं कुछ खाया-पिया जहाँ लोग मेरे साथ श्रम के कार्य में जुट गये। बाकी सब जगह तो अनिच्छा से दो-एक टुकड़े लेकर ही क्षमा माँग ली। (कुछ रुक कर) कठिनाई तो यह है कि हर जगह मना भी तो नहीं किया जाता। बेचारे प्रबन्ध करते हैं; उसका तिरस्कार करना भी उचित नहीं है। भावों के भूखे तो भगवान भी रहते हैं।

[नेता जी हँस पड़ते हैं। सब उनकी हँसी में योग देते हैं।]

कैलाश—चित्र खिंचाने का चलन तो इधर बहुत बढ़ गया है।

नेता—बस, नाक में दम हो जाता है हम लोगों की। कोई फोटोग्राफर कहता है—ऊपर देखिए दायें हटिए, बायें मुड़िए। कोई सलाह देता है—कैमरे पर देखिए, नहीं आँखें नहीं आयँगी, कोई चश्मा अलग रख देने की सिफारिश करता है।

मैजि०—तो यों कहिए कि कवायद कराते हैं ये लोग।

नेता०—कुछ न पूछिए साहब। आज ही मुझसे आठ-दस जगह

चित्र के लिए कहा गया। मैने तो साफ कह दिया—मुझे नहीं फुरसत है इन बातों की, न आपकी तरफ देखने में ही वक्त खराब कर सकता हूँ। मैं तो अपना काम करूँगा, आप चाहें तो अपना काम कर सकते हैं।

मैजि०—यही चाहिए भी, सभी नेता यह आदर्श अपना लें तो क्या कहना है।

नेता—(संतोष के स्वर में) मैं तो सच्ची बात जानता हूँ। जब हम जनता के सेवक हैं, तब इमानदारी से काम करना चाहिए। इतनी संस्थाओं के कार्य-क्रम में भाग लेने के साथ मैंने प्रधान मंत्री के साथ श्रम भी किया। यही तो मुख्य कार्य था आज।

कैलाश—यहाँ के विद्यालयों में कैसा काम हुआ? आपको तो पता होगा?

नेता—चार-पाँच संस्थाओं में तो मैं गया था। वहाँ तो खूब काम हुआ। बाकी के बारे में अभी तक मुझे कुछ मालूम नहीं है। और कुछ में तो सरकारी अफसरों को बुलाकर धूम-धाम कर दी गयी। पूछिए, आज जनता के प्रतिनिधियों को बुलाना चाहिए था या इन लोगों को? अफसरों के लिए तो पचासों और मौके हैं। इस विद्यालयों में सिवा दिखावे के और क्या हुआ होगा?

कैलाश बालिका विद्यालय में तो सुना अच्छा काम हुआ। वहाँ की दो छात्राएँ अभी अभी झंडे बेचने आयी थीं यहाँ।

नेता—छात्राओं में इतना उत्साह! उनकी आचार्या जी को मैं स्वयं बधाई देने जाऊँगा। (मणिकांत से आपको प्रेरणा लेनी चाहिए इन लोगों से। जब हमारे देश की बालिकाएँ इस प्रकार के

सेवा-कार्यों में भाग लेंगी, तो क्या आप लोग पीछे रहेंगे ? (कैलाश नाथ से) बड़ी अच्छी सूचना दी आपने। कितनी देर हुई उन्हें यहाँ से गये ?

कैलाश—पड़ोस में ही गयी हैं· शायद अभी वहीं होंगी।

नेता—उनसे तो मैं अवश्य मिलूँगा। सेवा करनेवालों से मिलने में तो मुझे कभी थकावट मालूम ही नहीं होती। (मणिकांत से) बेटे तुम्हें मालूम है—वे कहाँ गयीं हैं ?

कैलाश—(मणिकांत से) मणि, साथ चले जाओ नेता जी के।

[मणि तुरंत उठता है। नेता जी के साथ सभी खड़े हो जाते हैं।]

नेता—अच्छा, नमस्ते। फिर मिलूँगा आपसे। (मैजिस्ट्रेट से) अब आज्ञा दीजिए।

मैजि०—(हाथ जोड़कर) नमस्ते। मुझे आप सेवा के लिए सदैव तत्पर पायँगे।

[कैलाश से 'नमस्ते' करके नेता जी का मणिकांत के साथ जाना। मैजिस्ट्रेट साहब बैठ जाते हैं।]

कैलाश—(खड़े-खड़े) आप तो बहुत थक गये हैं; अब विश्राम कीजिए।

मैजि०—अजी बैठिए भी थोड़ी देर। (जोर से) रामू !

रामू—(तुरंत प्रवेश करके) जी।

मैजि०—चल, कपड़ा खोल। (पैर बढ़ाते हैं, रामू जूता

खोलता है) बड़ा नेता बना फिरता है ! दिमाग चाट गया । मुँह है कि मशीन ! एक बार खुला तो रुकने का नाम ही नहीं लेता ।

कैलाश—नेता और अध्यापक बकते-बकते दोनों बकवादी हो जाते हैं ।

मैजि०—जरा दुस्साहस तो देखिए ! जिसने कभी विश्वविद्यालय का मुँह नहीं देखा, वही वहाँ के अध्यापकों का निकम्मा कहे और वह भी लड़कों के सामने । (कुछ रुक कर) शिष्टाचार का इतना भी ध्यान उसे नहीं है कि कम से कम एक अध्यापक के सामने तो ऐसी बातें न करता ।

कैलाश—(कुछ खिसियाकर मेरा इनसे परिचय नहीं है । मेरी प्रवृत्ति तो आप जानते ही हैं कि किसी से मिलता-जुलता नहीं और (कुछ हँसकर) इन नेताओं को तो दूर से सलाम करता हूँ ।

मैजि०—(ध्यान न देकर) बड़ा सेवक बना फिरता है ! श्रमदान-दिवस क्या आया, जैसे तकदीर जग गयी इन लोगों की । आज इन लोगों की 'सहालग का दिन समझिए ।

[रामू जूते-मोजे खोल कर चप्पल पहनाता है । फिर जूते लेकर भीतर चला जाता है ।]

कैलाश और्रों को देखते आदमी बुरा तो नहीं है यह ।

मैजि०—आपकी बातें ! नेतागीरी के लटके जानता है बस । देखा नहीं, कैसा लाल बना है ! यह सेवा की लाली है ? (हँसकर) घंटा भर श्रम कर दिया जिसकी धूल दिखाता फिरता है । पूछो, सेवा करने गये थे या प्रधान मन्त्री की निगाह में चढ़ने ? और आप इसे अच्छा कहते हैं ।

कैलाश—मेरा मतलब था कि इनके भाई बंधु तो इनसे भी बढ़कर हैं।

मेजि०—मैं कहता हूँ कि इससे छँटा हुआ आदमी आप पा नहीं सकते। कहता है—जहाँ मैं गया वहाँ सब ठीक हुआ, जहाँ नहीं गया वहाँ कुछ नहीं हुआ हद कर दी इसने!

[रामू आकर कोट खोलकर ले जाता है और उसका लाया हुआ दुशाला मैजिस्ट्रेट साहब ओढ़ लेते हैं।]

कैलाश—पर इतना तो मानना पड़ेगा कि आदमी पहुँच का है।

मैजि०—अब समझा आपने ठीक। मेरे अफसर की भी मित्रता है इससे। इसीलिए तो 'हाँ' में 'हाँ' मिलाता रहा इसकी इतनी देर तक। ये पहुँच के आदमी सरकार की अच्छी से अच्छी योजना भी बिगाड़ देते हैं। कुछ काम ही नहीं हो सकता इन लोगों के मारे।

कैलाश—बिलकुल ठीक कहते हैं आप।

मैजि—और इन्हीं लोगों को क्यों दोष दें अकेले हम लोग भी तो कुछ नहीं करना चाहते। मैं इतनी देर से चिल्ला रहा हूँ थक गया, चूर चूर हो गया, मर गया; परन्तु जानते हैं कि कितना श्रम किया है मैंने? (मैजिस्ट्रेट साहब क्षण भर रुक जाते हैं; कैलाश बाबू उनके मुंह की ओर ताकने लगते हैं) विश्वास मानिए, सिर्फ फोटो खिंचाने के लिए फड़ुआ पकड़ा था मैंने बाकी काम चपरासियों ने लिया किराये के मजदूरों से। भला, ऐसे उन्नति हो सकती है किसी देश की? पर चिल्लाऊँ न, तो नालायक और नमक-हराम कह कर निकाल दिया जाऊँ कल ही।

कैलाश—आपके आफिस में तो इस योजना की काफी चर्चा होगी ? इसके महत्व पर भी विचार हुआ होगा ?

मैजि०—देखिए, हम लोग आज की किसी योजना पर गंभीरता ोचने की आवश्यकता ही नहीं समझते । (कुछ रुक कर परिवर्तित में) सच तो यह है कि जो अधिकारी वर्ग विदेशियों के समय ला आ रहा है, वह.........उसकी नये गद्दीधारियों से पटरी बैठ पाती । न जाने क्यों हमें इनकी योजनाओं पर हँसी ही ो है ।

[कैलाशनाथ को बात करने का नया सूत्र नहीं सूझता । वह री से एक पान उठा लेता है ।]

मैजि०—(पुनः) अधिकारी वर्ग की आदत कुछ ऐसी बिगड़ गयी क ऊपर से किसी योजना के सामने आते ही हम उसकी काट के य सोचने में ही सारा दिमाग लगा देते हैं । (हँसकर) कागज को र देकर जो जितना आगे बढ़ा सकता है, वही हममें सबसे ल समझा जाता है और उसी से हमारे नेता लोग भी संतुष्ट । हैं ।

कैलाश—(गंभीरता से) कौन कह सकता था कि पाँच-सात वर्ष ही काँग्रेस के प्रति इतनी अश्रद्धा हो जायगी लोगों में ?

मैजि०—आप तो विद्वान और अनुभवी हैं; मानव-स्वभाव को ी-भाँति जानते हैं । मानव त्यागी को पूजता है । काँग्रेस वाले तक त्यागी रहे, जनता ने आदर किया । जिस दिन 'त्याग' को ग कर उन्होंने 'ग्रहण' के लिए लंबे-लंबे हाथ बढ़ाना शुरू किये, ता की निगाह में वे गिर गये ।

कैलाश—मैं भी आपकी इस बात से सहमत हूँ। राम की कहानी देखिए। राम को हम इसलिए पूजते हैं कि उन्होंने विमाता और पिता की आज्ञा का पालन किया; लेकिन भरत हमारी श्रद्धा के पात्र इस कारण हैं कि उन्होंने माता, विमाता, गुरु, जनक आदि सभी बड़ों की आज्ञा को ठुकरा दिया; क्योंकि वह 'ग्रहण' के लिए उत्साहित करनेवाली थी।

मैजि०—और अभी क्या हुआ है? अभी तो कुछ तपे हुए, त्यागी और तपोनिष्ठ पुण्यात्मा संस्था का भार सम्हाले हैं। जिस दिन उनका वरद हस्त हटा कौरवों-पांडवों की तरह मदांध होकर ये परस्पर लड़ मरेंगे।

कैलाश—(हँस कर) आप तो जैसे शाप दे रहे हैं।

मैजि० शाप नहीं, यह प्राकृतिक और ऐतिहासिक सत्य है जिसकी ओर से धन, पद, मान आदि की लिप्सता रखने वाला आँख मूँद लेता है—यों भी कह सकते हैं कि उसकी आँख इन मदों से स्वयं मुँद जाती है; खुली-आँख से वह कुछ देख ही नहीं पाता।

रामू—(प्रवेश करके) भोजन तैयार है।

मैजि०—अच्छा, लगा मेज पर (रामू जाता है)।

कैलाश—परंतु इतनी कमी जरूर रही आज कि निश्चित रूप-रेखा नहीं बनायी गयी इस योजना की।

मैजि०—निश्चित रूपरेखा हर चीज की बन जाय तो इन नेतओं को पूछे कौन? और फिर निश्चित रूप-रेखा से आप चाहते क्या हैं—योजना का उद्देश्य दिया हुआ है कार्यों की सूची साथ है। सब को स्वतत्रता है, अपनी शक्ति के अनुसार काम करने की।

कैलाश -- मेरा मतलब यह था कि विभिन्न विद्यालयों और राजकीय कार्यालयों आदि के लिए कार्य-क्रम निश्चित कर दिया गया होता तो अव्यवस्थित रूप से आज का दिन इनसे संबंधित व्यक्ति न बिताते।

मैजि०—देखिए, हमारी मनोबृत्ति ही ऐसी हो गयी है कि हम हर स्थिति में असतुष्ट रहते हैं केवल उद्देश्य और कार्य दिये हुए हैं. तब हमें निश्चित रूपरेखा चाहिए। विस्तृत रूपरेखा होती; तब कहा जाता कि हमको बिलकुल मूर्ख और दास समझा जाता है; अपने मन से सोच-समझकर कोई काम करके बुद्धि या स्वतंत्रता का उपयोग करने का अवसर ही नहीं दिया जाता।

[राकेश और मणिकांत का प्रवेश]

मैजि —मिलीं वे लड़कियाँ नेता जी को ?

मणि०—जी नहीं, वे जा चुकी थीं।

मैजि० - चलो, अच्छा हुआ; नहीं तो उन बेचारियों का भी घटा भर बरबाद होता।

रामू—(प्रवेश करके) भोजन मेज पर लगा है सरकार !

मैजि०—अच्छा, चलो (सब खड़े होते हैं)।

कैलाश—तो आज्ञा दीजिए।

मैजि०— (सहसा हँसकर) परतु यह तो बताइए कि आपने किस प्रकार मनाया यह दिवस ? देश के उत्थान में आप का भी तो योग होना चाहिए

कैलाश—(सकुचाकर, जैसे इस प्रश्न के लिए तैयार न हो) मैंने ? मैंने तो सिर्फ अपनी सेवा की।

मैजि०—अपनी सेवा ? कैसे ?

कैलाश सब लड़के-लड़कियों के साथ सारे घर की सफाई की। थोड़े से पेड़-पौधे लगाये और ……………(सकुचाकर चुप हो जाता है)।

मैजि०—(कुछ-कुछ अनुमान करने का प्रयत्न करते हुए नम्र स्वर में) और क्या ?

कैलाश—जी, और अंत में सबने निश्चय किया कि कम से कम अपना काम हम लोग स्वस्थ रहने पर तो अपने हाथ से ही करेंगे। इस पहले पाठ के बिना मेरी समझ में, कोई श्रमदान-योजना कभी सफल नहीं हो सकती

[मैजिस्ट्रेट साहब की मुस्कराहट गंभीरता में परिवर्तित हो जाती है। दोनों नवयुवक कभी उनकी ओर और कभी कैलाशनाथ की ओर देखते हैं। क्षण भर बाद कैलाश बाबू हाथ जोड़कर, उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही, द्वार की ओर बढ़ते हैं। मणिकांत भी उनके पीछे हो लेता है।]

—:❀:—

कृष्ण-जन्म

स्थान—

मथुरा में कंस के राजमहल के समीप देवक का निवास । जिस बंदीगृह में वसुदेव-देवकी थे, वह यहाँ से लगभग आध मील उत्तर की ओर था । इसके पूर्व में एक मील पर यमुना बहती थी कंस का राजमहल इसके पश्चिम में तीन फर्लांग की दूरी पर था ।

देवक के निवास की दूसरी मंजिल का चौकोर कमरा । इसकी पूर्वी दीवार में तीन दरवाजे हैं जो राजमार्ग पर खुलते हैं । बाकी तीनों दीवारों में एक-एक दरवाजा और दो-दो खिड़कियाँ हैं । सभी द्वार बंद हैं । कमरे के एक कोने में बहुत हल्के प्रकाश का दीपक रखा है ।

दक्षिण की दीवार के सहारे लाल और सफेद, दो डोरियाँ लटक रही हैं । पश्चिम के एक झरोखे के नीचे एक ऊँची चौकी रखी है । कमरे के बीच में चार साधारण आसंदियाँ हैं ।

दीवार के पास एक ऊँची चौकी पर समय-सूचक यंत्र रखा हुआ है। एक बड़े पात्र से इस यंत्र का संकेत किया जा सकता है।

पात्र—

देवक—देवकी का वृद्ध पिता जो कंस का चाचा लगता था। अवस्था ७० वर्ष। स्वस्थ शरीर। चौड़ा मुखमंडल। बाल खिचड़ी। सतेज दृष्टि। स्वच्छ दंत-पंक्ति। मुख पर गंभीरता।

उपनन्द—गोकुल का एक प्रसिद्ध गोप जो नंद का संबंधी था और जो कंस के भीतरी शत्रु, पर ऊपरी मित्र-वर्ग का प्रतिनिधि है। अवस्था ५ वर्ष। तेज से दीप्त मुखमंडल। दृष्टि में सरलता और उत्सुकता। बाल काले।

अन्य - नायक, सैनिक, सेवक, और सेविकाएँ।

समय—

भादों की अंधकारमयी रजनी। मूसलाधार पानी बरस चुका है और फिर उसी की तैयारी आकाश में हो रही है। बादलों की गरज और बिजली की कड़क बार-बार सुनायी देती है।

उपनंद—तो तुम्हें उस ज्योतिषी की बात पर विश्वास है ?

देवक—पूर्ण विश्वास है। बारह बजे, ठीक बारह बजे जन्म होगा बालक का—एक क्षण का भी अंतर नहीं पड़ सकता इसमें।

उपनंद—नौ बजा है; एक पहर—सिर्फ आठ घड़ी—समय शेष है। (बड़ी-बड़ी बूँदों की पड़पड़ाहट सुनकर) एँ, फिर पानी बरसने लगा ! कैसे मिलेगी सफलता हमें !

देवक—अब क्या संदेह है सफलता में जब प्रकृति भी सहायता कर रही है हमारी। (बंद द्वार जरा सा खोलकर बाहर झाँकते हुए) देख रहे हो कुछ ?

उपनंद—(चौंक कर) क्या ? कोई है ?

देवक—है कोई नहीं; पर देखो तो हमारी सफलता के साधन कैसे जुटते चले आ रहे हैं। (हर्षित होता है) आज तो दैव भी हमारे अनुकूल है।

उपनंद—प्रकृति की सहायता, दैव की अनकूलता—यह सब क्या कह रहे हैं आप ! मेरा तो कलेजा काँप रहा है।

देवक—हिम्मत बाँधो। देखते नहीं यह भादों की अँधेरी रात और उस पर घनघोर घटा जो घड़ी-घड़ी पर मूसलाधार बरसने लगती है। कंस का कौन अनुचर साहस करेगा ऐसे समय में बाहर निकलने का, बोलो ?

उपनंद—(सहर्ष) ठीक है; यह बात तो सचमुच बहुत अच्छी हुई।

देवक—और यह हवा ? माघ के शीत को भी मात कर दिया है

इसने और आँधी की प्रचंडता भी फीकी है इसके सामने। कोई प्रकाश रुक सकेगा इस समय ?

उपनंद—यह बात तो सूझी ही नहीं थी मुझे।

[बंद द्वार पर थपथपाहट। उपनंद का उठकर खोलना। सर से पैर तक भीगे हुए एक यादव का प्रवेश। उपनंद फिर द्वार बंद कर लेता है।

यादव—(शीत से काँपता हुआ पर उल्लास भरे स्वर में) एक शुभ समाचार। गोकुल में नंद जी के यहाँ, एक पहर हुआ, कन्या जन्मी है।

सेवक—(हर्षातिरेक से) यह तो बहुत ही शुभ और अनुकूल हुआ। मुझे सबसे अधिक चिंता इसी की थी कि देवकी के बालक होने की बात छिपायी तो जा नहीं सकती; उसके लिए दूसरा नवजात शिशु कहाँ मिले। (उपनंद से) देखा यह सुन्दर संयोग। इसी से मैं कहता हूँ कि दैव हमारी सहायता कर रहा है।

उपनंद—अब तो मुझे भी............मेरा भी विश्वास जमने लगा है। (यादव से) तो क्या नंद जी प्रस्तुत हो गये उस कन्या को देने के लिए ?

यादव—वे तो बहुत प्रसन्न हैं कि आज यादव जाति की सेवा करने का यह शुभ अवसर मिल रहा है; परंतु........परंतु पत्नी का ध्यान भी है उन्हें जिससे अपना भेद कहा नहीं जा सकता।

उपनंद—सचमुच माता के लिए बड़ी विषम स्थिति है। उतरती अवस्था में संतान का मुख देखने को मिला, उसे भी इस तरह त्यागना पड़ रहा है।

देवक—यह मोह-जन्य दुर्बलता का भाव नंद जी के मन में न आवे, इसका तुम्हें ध्यान रखना है। एक और व्यक्तिगत सुख और दूसरी ओर समस्त यादव जाति के कल्याण का श्रेय—इनमें से एक ही पा सकते हैं हम।

यादव—विश्वास रखिए—नंद जी को यह समझाने की आवश्यकता ही नहीं है।

देवक—(विशेष ध्यान न देकर) देवकी के पुत्र की जीवन रक्षा के लिए मैं चिंतित नहीं हूँ। उसके सात पुत्रों की निर्मम हत्या इन नेत्रों से देखकर ही हृदय अभ्यस्त और कठोर हो गया है। तुम सबको ज्ञात है कि यह बालक ही कंस का काल होगा और मैं इस नृशंस का अन्त देखने के लिए ही जीवित हूँ। (यादव से) तुम तुरन्त जाओ और नंद से समझाकर कहना—यादव जाति की नहीं, इस शूरसेन प्रदेश की समस्त जनता की रक्षा का अवसर बार-बार नहीं पा सकोगे।

यादव—आप निश्चिंत रहें, उन्हें ज़रा भी मोह नहीं है। वे स्वयं श्री वसुदेव के भावी पुत्र की रक्षा के लिए बराबर चिंतित रहे हैं। और इस कन्या के जन्म से सबसे अधिक प्रसन्नता उन्हें इसीलिए है कि वे अब यदुकुल-उद्धारक की रक्षा कर सकेंगे। मुझे यह शुभ संवाद आपको देने के लिए स्वयं उन्होंने ही भेजा है।

देवक—(साश्रु) किसे और कैसे समझा सकता हूँ कि देवकी के स्थान पर कोई भी दूसरी स्त्री होती, जिसकी संतान के संबंध में ज्योतिषी ऐसी भविष्यवाणी करते, तो उसकी रक्षा भी मैं इसी प्रकार प्राण-पण से करता।

यादव—(सविनय और करबद्ध) प्रकृतिस्थ हों आप। श्रीमती देवकी आज आपकी नहीं, समस्त यादव जाति की सौभाग्यवती पुत्री हैं और यह पुत्र केवल उनका नहीं सारी प्रजा की थाती है। उसकी रक्षा के लिए, नंद जी ने कहलाया है—मुझे अपने समस्त कुल का बलिदान करना पड़े तो अपना सौभाग्य समझूँगा।

देवक—(अश्रु पोंछते हुए उपनंद से) देखते हो त्याग का यह अनुपम आदर्श! इसे भी मैं दैवी प्रेरणा ही कहूँगा जो एक ओर नंद जी को इस उत्सर्ग के लिए उत्साहित करती है और दूसरी ओर योजना की सफलता के लिए हमें आश्वस्त करती है। (यादव से) किसे छोड़ आये हो उनके पास ?

यादव— दो आदमी हैं अपने। नंद जी यमुना के किनारे उस स्थान पर हैं जहाँ सबसे कम जल है। इस कन्या के जन्म से उनका उत्साह सौ गुना बढ़ गया है। वे तो इस पार आना चाहते थे परंतु मैंने रोक दिया उन्हें।

देवक— कहीं ऐसा गजब भी न करें; उसी पार रहें। (कुछ सोचकर) नदी तो नहीं बढ़ी है ज्यादा ?

यादव—यही तो सब से डर की बात है। नदी का पानी पिछले दो पहरों में ही दो हाथ से ज्यादा बढ़ चुका है। कच्ची पुलिया से जाना संकट मोल लेना है।

उपनंद—राजपुल पर भी तो सन्नाटा होगा इस समय या किसी नाव वाले को……………………।

देवक—नहीं, यह सब नहीं। राजपुल पर किस समय कौन आ जाय—कैसे कहा जा सकता है; और नाव तो हर्गिज़ नहीं।

(थोड़ी देर सोचता है) तुम जाओ, नंद को एक बार फिर साहस बँधाकर इस पार पुराने घाट पर ही मिलना। वहीं दूसरा आदमी मिलेगा तुम्हें उपयुक्त अवसर पर। जैसा वह बताये, वैसा करना। जाओ, सावधान।

[यादव का प्रणाम करके प्रस्थान। उपनंद उठकर द्वार बंद कर लेता है। देवक दूसरा द्वार खोलकर बाहर की ओर जरा देर देखता है; फिर उसे बंद करके बैठ जाता है। उपनंद की समझ में उसका उद्देश्य नहीं आता वह जिज्ञासा से उसकी ओर ताकता है]

देवक—है तुममें साहस कि पुराने घाट तक जा सको इस समय ?

उपनंद—बड़ी खुशी से। आपने क्या मुझे निरा कायर ही समझ लिया है ?

देवक—कायर नहीं समझता तुम्हें। परंतु सीधे बहुत हो तुम और सिधाई से काम नहीं चल सकता इस अवसर पर।

उपनंद—(खड़े होकर) क्या करना होगा मुझे वहाँ जाकर ?

देवक—अभी नहीं जाना है तुम्हें कहीं। कोई न आया, तब देखा जायगा।

[द्वार पर पहले की तरह थपथपाहट। उपनंद उठकर द्वार खोलता है। एक सैनिक का प्रवेश।]

देवक—नये पहरेदार आ गये ?

सैनिक—जी हाँ, आज के मौसम ने उन्हें भी भयभीत कर दिया है। मादक पेय उन्हें पिलाकर आया हूँ। अब तक वे बेखबर सो गये होंगे।

देवक—कितनी देर तक बेसुध रहेंगे वे ?

सैनिक—केवल दो पहर तक। प्रातः तीन बजे सजग हो जायँगे। उसी समय तक उनके कार्य की अवधि है।

देवक—ठीक; बहुत सावधान रहना; जाओ।

[सैनिक का प्रस्थान। उपनंद पुनः द्वार बंद कर लेता है। देवक समय-सूचक यंत्र के समीप जाकर देखता है; फिर बाहरी द्वार से एक बार झाँककर अपने स्थान पर बैठता है।]

देवक—एक घड़ी बीत गयी सिर्फ सात घड़ी शेष हैं।

उपनंद—समय की चाल भी जैसी धीमी हो गयी है।

देवक—(ध्यान न देकर) हमारी योजना यदि सफल हो गयी और इस बालक की रक्षा की जा सकी तो यदुकुल का सौभाग्य-सूर्य उदय हो जायगा; आर्य जाति का भाग्य चमक उठेगा।

उपनंद—लेकिन कंस को भी तो ज्योतिषियों ने बताया होगा कि तेरे काल का जन्म आज ही अमुक समय पर होगा।

देवक—एक ज्योतिषी ही क्या, सभी वर्ग उससे त्रस्त हैं और नित्यप्रति उसके नाश की कामना करते हैं। इसलिए पहले वे लोग स्वयं ही सच्ची बात छिपाना चाहते थे, फिर हम लोगों की प्रार्थना भी उन्होंने मान ली और हमें पूरा सहयोग देने को तत्पर हो गये।

उपनंद—तब भी कंस को कुछ तो उत्तर दिया ही होगा उन्होंने।

देवक—उत्तर न देते तो जीवित कैसे बचते ? परंतु सबसे उसे यही सूचना मिली कि अभी एक सप्ताह तो देवकी के पुत्र होने का योग नहीं है।

उपनंद—यह तो कंस बहुत पहले से जानता है कि यह बालक ही उसका काल होगा; तब इतनी ही सूचना पाकर क्या वह सतर्क नहीं हो गया ?

देवक—सतर्क तो वह पूरे डेढ़ वर्ष से है और इधर तो जैसे बौखला गया है। वह अब न तो किसी का विश्वास करता है, न किसी को मित्र या हितैषी समझता है। दिन-रात में कई-कई बार बंदी-गृह के पहरे बदलता है और बिना पूर्व सूचना के ही वहाँ जा धमकता है। देवकी वसुदेव को देखते ही जैसे उसके आग लग जाती है। कोई साथ न रहता तो वह दोनों को अब तक समाप्त कर चुका होता।

उपनंद—(काँप कर) कहीं इस समय पहरे बदल दिये उसने, तब क्या होगा ?

देवक—बदल सकता है और इसकी पूरी संभावना भी है। यों मैं इन सब बातों का प्रबंध कर चुका हूँ; फिर भी ··· ··········· फिर भी सफलता तो ईश्वर की कृपा से ही मिलेगी। (कुछ रुक कर) हमने तो ·············· हम लोगों को तो केवल इस बात का ही संतोष है कि इस बार हम भी असावधान नहीं हैं।

[द्वार पर थपथपाहट। उपनंद का द्वार खोलना। पुरुष वेश में एक यादव नवयुवती का प्रवेश। दोनों उत्सुकता से उसकी ओर देखते हैं।]

देवक—क्या समाचार है ?

युवती—बालक के जन्म का समय आ गया जान पड़ता है। घड़ी दो घड़ी जो भी लग जायँ।

देवक—देखो, धाय के साथ रहना। पल भर को भी वह आँख

की ओट में न होने पाये। (परिवर्तित स्वर में) पूरे वर्ष भर से हम लोगों ने उसकी सभी बातें पूरी की हैं आज के दिन के लिए ही—यह उसे बहुत अच्छी तरह समझा देना।

युवती—महीनों से यही समझा रही हूँ और मुझे विश्वास है कि धोखा नहीं देगी वह। कंस के राज्य में उसकी जान भी तो हर समय सूली पर टँगी रहती है।

देवक—यह तो ठीक है; परंतु इस आशा और विश्वास पर निश्चिंत मत हो जाना तुम लोग। छाया की तरह साथ रहना और संदेह का कोई भी कारण उपस्थित होते ही निर्ममता से प्राण हर लेना उसके बिना किसी संकोच के। जाओ।

[युवती का प्रस्थान। उपनंद द्वार बंद करके और देवक बाहर के द्वार से झाँककर, अपनी जगह दोनों बैठते हैं]

उपनंद—बड़ा बिकट खेल खेल रहे हैं आप।

देवक—मेरे जीवन का अंतिम खेल समझो इसे। कंस के सभी अन्यायों और अत्याचारों को हमने सहन किया। उनका प्रतिकार करने की बात भी कभी न सोच सके। (एक लंबी साँस लेकर) सात सात बच्चे, अबोध बच्चे, संसार का प्रकाश देखने के पूर्व ही माता-पिता और संबंधियों की आँखों के सामने ही, मार डाले गये। नृशंसता की पराकाष्ठा क्या कुछ और हो सकती है?

उपनंद—(शांत करने के उद्देश्य से) पराश्रित हम लोग कर ही क्या सकते थे? कितनी शक्ति है उसकी, कितनी सतर्कता, कितनी निष्ठुरता!

देवक—(दृढ़ता के साथ) आज निर्णय हो जायगा सदा के

लिए यादव-जाति के भाग्य का। इस बार यह निश्चय कर लिया गया है कि या तो यह बालक बचा लिया जायगा या आज ही रात को सारी यादव जाति जूझ मरेगी।

[द्वार पर थपथपाहट। उपनंद का द्वार खोलना। सेवक के वेश में एक यादव का प्रवेश। देवक उसकी मुखाकृति का ध्यान से अध्ययन करता है।]

देवक राजमहल में क्या हो रहा है ?

सेवक—नृत्य समाप्त हो चुका है। कंस को आज उसमें आनंद नहीं आया। कुछ भयभीत से जान पड़ते हैं वे। सेनापति को आज समीप ही बैठा लिया था उन्होंने। बार-बार उससे कुछ बात करते जाते थे।

देवक—अब कहाँ है वह ?

सेवक—जी, गये तो रंगमहल की ओर हैं, परंतु सेनापति अभी मंत्रणागृह में ही हैं।

[देवक कुछ सोचने लगता है। उसकी आँखें जरा फैल जाती हैं; आकृति कठोर हो जाती है। एक बार उपनंद पर दृष्टि डालकर वह दीवार पर लटकती डोरियों की ओर देखने लगता है। उपनंद और सेवक, दोनों उसकी ओर अवाक् रहकर ताकते हैं।]

उपनंद क्या कुछ सूचना मिल गयी उसे ?

देवक—सूचना तो नहीं मिली जान पड़ती, अन्यथा वह इतना निश्चिंत रहता; परंतु संदेह हो सकता है और इतना ही हमारी सारी योजना पर पानी फेरने के लिए पर्याप्त है। (सेवक से)

अच्छा जाओ तुम शीघ्र। कोई जरा भी संकट की बात हो तो तुरंत लाल मशाल जलाकर संकेत करना नियत स्थान से।

[सेवक का शीघ्रता से प्रस्थान। उपनंद पुनः द्वार बंद कर लेता है। देवक विशेष चिंतित दिखाई देता है।]

देवक समझ में नहीं आता कि सेनापति महल में क्यों है इस समय ?

उपनंद किसी बात पर या किसी के आचरण पर संदेह हो गया होगा उन्हें।

देवक—यह बात कुछ जँचती नहीं; क्योंकि किसी भी तरह का संदेह यदि कंस को हो जाता, तो वह न जाने क्या कर बैठता।

[बंद द्वार पर जोर का धक्का। दोनों चौंककर उधर देखते हैं। उपनंद झपटकर द्वार खोलता है। एक सैनिक का प्रवेश।]

सैनिक—कंस ने अभी-अभी दो सैनिक कारागार की ओर भेजे हैं।

देवक—(चौंक कर) ऐं! किस लिए!

सैनिक—कंस आज सायकाल से ही किसी अज्ञात कारण से भयभीत है। सब तरह से उसका मन बहलाने का प्रयत्न किया गया; परंतु शांति नहीं मिल सकी उसे। बहुत देर तक सेनापति से बात करता रहा वह और तब कदाचित् वसुदेव जी का ध्यान आते ही कारागार की ओर सैनिक भेज दिये उसने।

देवक क्या कहा है उनसे ?

सैनिक—इसका पता लगाने में समय लगता। इसलिए मैंने पहले आपको सूचना देना ही उचित समझा।

उपनंद—यह तो बहुत बुरा हुआ।

देवक—(संतोष के साथ) इससे इतना तो स्पष्ट ही हो गया कि उसे न किसी पर संदेह है और न कोई सूचना ही मिली है। परंतु बुराई यह हुई कि बंदीगृह के पहरेदार जब असावधान मिलेंगे इन सैनिकों को, तब सारा भेद खुल जायगा।

[देवक कुछ सोचकर ताली बजाता है। पीछे के द्वार से नागरिक के वेश में एक सैनिक का प्रवेश।]

देवक—कंस के दो सैनिक कारागार की ओर गये हैं। उनसे मिलकर पता लगाओ कि क्या उद्देश्य है उनके भेजे जाने का और क्या सूचना लाये हैं वे। कोई प्रतिकूल बात हो तो बंदी बना लो उन्हें।

[नागरिक वेशधारी सैनिक का उसी द्वार से प्रस्थान। देवक उठकर एक बार बाहर की ओर झाँक लेता है।]

उपनंद—अगर जरा भी पता लग गया कंस को तो प्रलय मचा देगा वह।

देवक—(उसकी बात पर ध्यान न देकर, सैनिक से) तुम भी कारागार की ओर जाओ। कोई विशेष बात हो तो तुरंत सूचना देना।

[सैनिक का शीघ्रता से प्रस्थान। इस बार देवक द्वार बंद करके समय-यंत्र के पास खड़ा होकर ध्यान से देखता है; फिर दो बार ताली बजाता है। पीछे के द्वार से एक प्रौढ़ का शीघ्रता से प्रवेश।]

देवक—बंदीगृह की ओर शीघ्रता से जाओ। पीछे के सातवें द्वार के पास एक खिड़की है; वहीं खड़े हो जाना। वसुदेव जी जब बाहर निकलें, उनको साथ लेकर कच्चे घाट पर पहुँच जाना। एक

नायक मिलेगा वहीं तुम्हें। कच्ची पुलिया से ही तीनों को यमुना के पार जाना है। पुलिया पर दो-तीन हाथ पानी होगा; संभव है बहाव भी तेज हो; परंतु प्रकाश मत करना। समझ गये सब ?

प्रौढ़ - जी हाँ। और लौट कर ?

देवक—उसी मार्ग से लौट कर कारागार के निकट वाटिका में अपने साथियों में मिल जाना और आगे के निर्देशों की प्रतीक्षा करना। जाओ।

[प्रौढ़ का प्रस्थान। देवक कुछ सोचता हुआ उसी ओर देखता रहता है। फिर बाहर का द्वार थोड़ा खोलकर झाँकता और उसे बंद कर देता है]

उपनंद—आपने तो मुझसे जाने को कहा था वसुदेव जी के साथ ?

देवक—परिस्थिति बदल गयी है। तुम्हें दूसरा काम करना होगा दो घड़ी बाद।

[देवक सामने लटकती हुई लाल डोरी खींचता है। नेपथ्य में घंटा की सी धीमी आवाज सुनायी देती है। तब वह समय-यंत्र के पास पुनः आकर खड़ा होता है। पीछे के द्वार से एक सैनिक का प्रवेश। वेश-भूषा से वह नायक-सा जान पड़ता है।]

देवक—तीस चुने हुए योद्धा लेकर कच्ची पुलिया के पचास गज पूर्वी ओर के बाग में इधर-उधर छिप जाओ। यदि कंस के सैनिक वहाँ आयें, तो तुम लोगों को युद्ध करना होगा। किसी ओर आते-जाते से बोलने की आवश्यकता नहीं है, यदि वह तुम्हें न छेड़े तो। दो-दो एक-एक करके घड़ी भर के भीतर ही वहाँ पहुँचना है तुम लोगों को।

नायक · पचास सैनिक उत्तरी बाग में भी आप भेज चुके हैं। उनके लिए कोई निर्देश ?

देवक—उनको आवश्यक बातें बतायी जा चुकी हैं। सावधानी से जाओ। एक पहर पश्चात् तुम्हे दूसरी सूचना मिलेगी।

[नायक का प्रस्थान। बादलों की गरज और बिजली की कड़क फिर सुनायी देती है। पानी भी खूब जोर पकड़ता है।]

उपनंद—मैं समझता हूँ कि एक पहर इसी तरह तेज पानी पड़ता रहे तो हमारा काम निश्चय ही बन सकता है।

देवक—(उसकी बात जैसे न सुनकर) बारह बजने में सिर्फ चार घड़ी बाकी हैं। ज्योतिर्षी की भविष्यवाणी के अनुसार चार घड़ी पूरी होते ही जन्म होना चाहिए बालक का। यादव कुल का भाग्य······ (सहसा रुककर) उपनंद ! तुम उस झरोखे से सामने की ओर बराबर देखते रहो। राजमहल के बायीं ओर अशोक-वृक्षों के झुरमुट में देखना कोई प्रकाश दिखायी देता है ?

[उपनंद झरोखे के पास खड़ा होता है और ध्यान से बतायी गयी दिशा में देखता है।]

उपनद—मुझे तो कोई प्रकाश नहीं दिखायी देता। बिजली कभी-कभी चमक जाती है।

देवक—देखते रहो घड़ी भर तक। सैनिकों को भेजने के बाद कंस ने क्या किया, इसकी सूचना प्रकाश से ही मिलेगी। पीठिका पर बैठ जाओ; खड़े कहाँ तक रहोगे।

[देवक तब सामने लटकती हुई सफेद डोरी खींचता है।

नेपथ्य में पहले से कुछ तेज घंटी बजती है। तब वह दूसरे झरोखे के पास जाकर ध्यान से दूसरी दिशा में देखता है। एक नायक का प्रवेश।]

देवक—राजमहल के सिंहद्वार के समीप कितने सैनिक छिपे हैं अपने ?

नायक—पाँच सौ श्रीमन्।

देवक—कोई विशेष सूचना मिली है ?

नायक—जी नहीं, सिंहद्वार के प्रहरी अवश्य कुछ अधिक सजग दिखायी पड़ते हैं आज।

देवक—सेनापति कहाँ हैं ?

नायक—अभी र जमहल में ही हैं। संभवतः वे वहीं रहेंगे आज।

देवक – कैसे पता लगा ?

नायक—रथ लौटा दिया है अपना उन्होंने।

देवक—महल के समीप छिपे नायक से कहला दो- हर चौथाई घड़ी पर सूचना देते रहें। कोई विशेष बात न हो तब भी आदमी आना चाहिए उनका।

मामक—जो आज्ञा (जाने लगता है)।

देवक—और सुनो। अस्त्रागार को घेरनेवाले नायक से कहला दो कि यदि राजकीय सैनिकों के सतर्क होने की सूचना मिले और सेना सजने का बिगुल बजे तो तुरंत आग लगा दें उसमें।

नायक—अस्त्रागार के प्रहरी बहुत गहरी नींद में हैं। कोई भी

दो पहरों के पहले नहीं उठ सकता। इच्छा होने पर एक बच्चा भ
आज कंस का सारा अस्त्रागार अनायास ही फूँक सकता है।

देवक—(संतोष के स्वर में) ठीक है (अपेक्षाकृत दृढ़ स्वर में
और तुम्हें भी एक काम करना है।

नायक—(तत्परता से) आज्ञा दीजिए।

देवक—आवश्यकता होने पर मैं हरा, लाल और सफेद, ती
प्रकाश साथ साथ करूँगा। इन्हे देखने के लिए नियुक्त नायक व
सावधान कर दो संकेत मिलते ही तुम्हें राजमहल पर लगा देनी
और इतना कोलाहल करना है कि सारा मथुरा नगर सजग हो जाय।

नायक—ऐसा ही होगा।

देवक—द्वार-रक्षकों को मार कर तुम सब राजमहल के भीत
पहुँच जाओगे और बाहर से द्वार बंद करवा दोगे जिससे कोई बाह
न आ सके। (क्षण भर रुक कर) यह हमारा अंतिम प्रयत्न होगा
जाओ।

[नायक का प्रस्थान। देवक दूसरी ओर के झरखे पर ए
दृष्टि डाल कर उपनंद के झरोखे की तरफ दृष्टि गड़ाता है।

देवक—दिखायी देता है कुछ ?

उपनंद—घोर अंधकार है बस।

देवक—यही चाहिए भी एक पहर और। फिर तो प्रकाश ह
प्रकाश हो जायगा सब ओर। (पुलकित होकर) वसुदेव का य
आठवाँ बालक दैवी शक्ति-संपन्न होगा—वह भी ज्योतिषियों ने कह
है। यदि थोड़ी देर और हमारी योजना में कोई बाधा न आयी त

मैं मान लूँगा कि सचमुच इस बालक पर देव की कृपा है और हमारे सुदिन आने को हैं।

उपनंद— बंदीगृह से कोई सूचना नहीं आयी बड़ी देर से ?

देवक—सूचना न आने में कोई चिंता की बात नहीं है। तुम सबके सहयोग से ऐसा प्रबंध हो गया है कि सारा कार्य यंत्रवत् चल रहा होगा। मुझे तो इस समय केवल इसलिए सूचनाएँ मिल रही हैं जिससे मेरी उत्सुकता शांत होती रहे।

[द्वार पर पुनः थपथपाहट। उपनंद उठना चाहता है, परंतु देवक उसे रोक कर स्वयं द्वार खोलता है। एक सामान्य सेवक का प्रवेश]

देवक—कहो, हो गयी सफल तुम्हारी योजना ?

सेवक—जी, आपके आशीर्वाद से।

देवक— सब सैनिक भोजन कर चुके ?

सेवक— जी हाँ। (हँस कर) अब प्रगाढ़ निद्रा में विश्राम कर रहे हैं आज का मादक पेय सबको विशेष स्वादिष्ट लगा। दो-एक को इस नये प्रबंध का कारण जानने की जिज्ञासा अवश्य हुई, परंतु अपने सैनिकों ने उन्हें यह कहकर संतुष्ट कर दिया कि देखते नहीं हो यह मौसम। इससे बढ़कर उपयुक्त अवसर और कौन हो सकता है इस तरह के पेय का ? कृतज्ञ होना चाहिए हमें प्रबंधकों का उनकी इस दूरदर्शिता पर।

देवक—बहुत सुंदर रहा।

सेवक—जी हाँ, परंतु यदि तीन-चार महीने पहले से इस प्रकार का एक न एक नया पदार्थ उनको समय-समय पर न दिया जाता

तो बड़ी कठिनाई होती इस समय। कुछ सैनिकों की आपत्ति सुनकर तो मैं मन ही मन काँपने लगा था, परंतु किसी तरह ईश्वर की दया से काम बन ही गया।

देवक—अपने पक्ष में कितने सैनिक हो गये हैं ?

सेवक—केवल आठवाँ भाग; परंतु वे सब खूब सजग हैं।

देवक—ठीक है। उनको समझा देना कि यदि सेना को तैयार होने की आज्ञा दी जाय तो स्वयं विद्रोह करने के पूर्व अधिकारियों के साथ मिलकर असावधान सैनिकों की भर्त्सना करने में समय नष्ट करें और बाद को आज्ञा देनेवालों पर ही आक्रमण कर दें। उन्हें यह भी विश्वास दिला देना कि उनके लिए सहायता समय के भीतर ही पहुँच जायगी। जाओ।

[सेवक का प्रस्थान। देवक समय-यंत्र के पास जाकर खड़ा होता है।

देवक— वहीं खड़े-खड़े) उपेंद्र ! दिखायी दिया किसी रंग का प्रकाश ?

उपनद—जी नहीं; केवल बिजली चमक जाती है कभी-कभी।

[द्वार पर फिर थपथपाहट। देवक का खोलना। कंस के दो सैनिकों के पीछे जानेवाले यादव का प्रवेश]

यादव—कंस के दोनों सैनिक विशेष रूप से कारागार में नियुक्त किये गये हैं आज ! वे दोनों वहीं रहेंगे।

देवक—परंतु पहरेदारों को मूर्छित देखकर क्या बोले वे ?

यादव—वे स्वयं आँधी-पानी से इतना दुखी हो चुके थे कि

उन्होंने ध्यान ही न दिया पहरेदारों की ओर; सोचा होगा—दुखी होकर सो गये हैं ये।

देवक—तब क्या किया इन लोगों ने ?

यादव—थोड़ी देर तक उन्हीं के पास ये लोग बैठे रहे; फिर दीवार से जरा सी पीठ टेकी और आधी घड़ी में ही दोनों निश्चिंत होकर विश्राम करने लगे इनको जड़ी सुँघा कर मूर्छित करना पड़ा। अब दोनों अचेत हैं

देवक—(निश्चिंतता की साँस लेकर अच्छा किया। बस, पहर, आधे पहर और सावधान रहने की आवश्यकता है जाओ।

[यादव का प्रस्थान। उपनंद झरोखे की दिशा में देखते देखते थक र गर्दन घुमाता है।]

उपनद—इधर तो कोई प्रकाश नहीं दिखायी देता।

देवक—यही तो हम चाहते हैं, थोड़ी देर और।

[द्वार पर फिर थपथपाहट। एक सैनिक का प्रवेश। देवक उत्सुकता से उसकी ओर देखता है। उपनंद भी उसी की ओर ताकने लगता है।]

सैनिक कंस शयनागार की ओर गय है। दो-तीन बार मदिरा पी उसने; परंतु आज न जाने क्यों नशा ही नहीं चढ़ रहा है उसे।

देवक—कोई चिंता नहीं। उसके बुलाने पर ही कोई जाय पास। प्रतिहारी को अपनी बुद्धि के अनुसार काम करने दो। उससे मिलने की भी आवश्यकता नहीं है अब।

सैनिक—जो आज्ञा (प्रस्थान) ।

उपनंद—कितना समय शेष है ?

देवक—(समय-यन्त्र के समीप जाकर) केवल दो घड़ी । (ऊपर की ओर देखकर) परमात्मा ! जैसे इतना निबाहा है, थोड़ा और निबाह दो ।

[द्वार पर फिर थपथपाहट । देवक द्वार खोलता है । पुरुष वेश में पुनः पहली युवती का प्रवेश ।]

युवती—प्रसव का समय निकट है । देवकी रानी अचेत हैं । अब क्या आज्ञा है ?

देवक—वसुदेव को मुक्त करो । उनको सारी योजना समझा दो । देवकी से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है । वह यदि स्वयं मूर्छित न हो तो जड़ी से मूर्छित कर देना ।

युवती—ऐं ! इस अवस्था में ।

देवक—(निर्मम दृढ़ता से) हाँ, इसी अवस्था में । उसको किसी भी बात का पता नहीं होना चाहिए । वसुदेव से भी मना कर देना अभी कुछ बताने से । पीछे के सातवें द्वार के समीप की खिड़की से बालक को लेकर वसुदेव बाहर हो जायँ । वहीं उन्हें एक नायक मिलेगा । जैसा वह कहे, वैसा करें । जाओ ।

[युवती का शीघ्रता से प्रस्थान । एक बार बिजली जोर से कड़कती है और मूसलाधार पानी गिरने लगता है ।]

उपनंद—इस बार तो बड़ा तेज पानी आया है ।

देवक—ऐसा ही पानी चाहिए इस समय । दैवी शक्तियाँ सामान्य परिस्थिति में कब अवतरित होती हैं !

उपनद—क्या वसुदेव को अभी तक कोई सूचना नहीं है इस योजना की ?

देवक—एक पत्र भेज कर सारी योजना समझा चुका हूँ; फिर भी दोहराने की आवश्यकता है। मैं समझता हूँ कि कंस के आतंक से उन्हें कर्तव्य-अकर्तव्य का ध्यान भी सरलता से न हो सकेगा।

उपनद—देवकी को अचेत करने से क्या लाभ सोचा आपने ?

देवक—तभी तो वह प्राप्त कन्या को अपनी जायी समझ सकेगी और कंस के पहुँचने पर पछाड़ें खाती हुई आँचल पसार कर उसकी भीख माँगेगी उसके विलाप में माता की ममता कैसे विलखेगी यदि उसे पता लग गया कि उसका पुत्र सुरक्षित है ?

उपनद—पुत्र ! क्या आप को विश्वास है कि देवकी के पुत्र ही होगा ?

देवक—एक बार कह चुका हूँ, मुझे पूरा विश्वास है और इस दैवी सहायता ने उसे अटल कर दिया है। (पुनः समययंत्र के पास जाकर) एक घड़ी शेष है। इतना समय और सकुशल बीत जाय तब तो................. हर्षातिरेक से रोमांचित हो जाता है)।

उपनद—तब तो यदुकुल के उद्धार की आशा हो जायगी।

देवक—आशा क्या, उद्धार ही निकट समझो। इसी समय से यादवों का कलेजा दूना हो जायगा और वे स्वतंत्र होने के लिए निश्चय ही कटिबद्ध हो जायँगे।

[द्वार पर जोर की थपथपाहट। एक नायक का घबराये हुए प्रवेश।]

नायक—कंस अभी-अभी अपने शयनागार में कोई भयानक स्वप्न देखकर सहसा चिल्ला उठा। सारे राजमहल में खलबली मच गयी है।

देवक—(चौंक कर) तब ? तब क्या किया उसने ?

नायक—सेनापति तो मंत्रणागृह में विश्राम कर ही रहे थे। उनको और अन्य सेनानायकों को बुला भेजा है उसने। अब सब उसी के पास हैं।

देवक—यह तो बहुत बुरा हुआ। अब वह इन नायकों में से किसी को अवश्य भेजेगा कारागार की ओर। शीघ्रता से जाओ और कह दो अपने साथियों से कि एक दो व्यक्तियों को यदि कंस भेजे तो उनसे युद्ध न करके किसी तरह उन्हें भ्रम में डाल दें।

[नायक का शीघ्रता से प्रस्थान। नेपथ्य में पहर का घंटा बजता है। देवक तेजी से समय-यंत्र के पास जाकर देखने लगता है। उपनन्द की भी दृष्टि स्वतः उस ओर घूम जाती है।]

देवक—हे भगवान्! बड़ी दया की। (ऊपर की ओर देखकर और हाथ जोड़कर) बस जरा देर और हे दयामय !

उपनंद—वसुदेव मुक्त हो गये होंगे ?

देवक वे बालक को गोद में लिये छाती से चिपटाये रहे होंगे अपनी सातों संतानों के सारे वात्सल्य को संचित करके उसका मुँह चूम रहे होंगे और आँखों में आँसू भर कर ऊपर की ओर देखते हुए 'हे दयामय', 'हे दयामय' का जाप करते करते द्वार की ओर बढ़ रहे होंगे।

उपनंद—(गद्गद् स्वर में) कितने वर्ष बाद आकाश देखने को मिला उन्हें सो भी कितनी देर के लिए और किस स्थिति में !

देवक—विवाह होते ही बंदी बना लिये गये वे। तब से आज तक अपनी सात संतनें वधिक कंस को सौंप चुके हैं। यह आठवाँ बालक उनकी नहीं, समस्त यादव जाति की संतान है। आज के बारह चौदह वर्ष पूर्व से इसी घड़ी की हम लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। भगवन् यह बालक चिरायु हो

उपनंद—जान तो यह बालक अपार प्रतापी ही पड़ता है। तभी तो कंस उसके जन्म की सूचना मिलने के पहले से ही इतना भयभीत हो गया है कि सोते-सोते चिल्ला उठता है। आह ! यदि इसी प्रकार देवकी के अन्य बालकों की जीवन-रक्षा की गयी होती !

देवक—उपेंद्र, प्रत्येक कार्य का समय होता है। बहुत-कुछ प्रयत्न करके भी यादव जाति को हम लोग आज के पहले पूर्ण रूप से संगठित नहीं कर सके।

उपनंद—(सहमत होकर) कंस का आतंक ही ऐसा था कि उसका विरोध करने की बात भी कोई कैसे सोच सकता था।

देवक—केवल विरोध की बात नहीं थी। देवकी-वसुदेव का प्रश्न आरंभ में राजपरिवार की एक साधारण घटना मात्र समझा गया जैसे महाराज उग्रसेन के बंदीगृह में डाले जाने का संबंध आज भी राजकुल से ही माना जा रहा है।

उपनंद—तब जन-मनोवृत्ति में परिवर्तन कैसे हुआ ?

देवक—देवकी के दो-तीन बालकों का वध होने तक तो समाज

यह आशा करता रहा कि संभव है, कंस का कठोर हृदय अबोध बालकों को निरपराध समझ ले। परंतु पाँचवें बालक की निर्मम हत्या पर छोटे बड़े सभी धैर्य खो बैठे। उन्हें विश्वास हो गया कि ऐसे निष्ठुर और नृशंस से दया की आशा करना दुराशा मात्र ही नहीं, बालू से तेल निकालने के प्रयत्न जैसी मूर्खता है।

उपनंद—मेरा अनुमान है कि इस आठवें बालक के संबंध में ज्योतिषियों की भविष्यवाणी ने भी जन-समुदाय को संगठित होने की प्रेरणा दी होगी।

देवक—यह भी सत्य है। क्षुब्ध जनता का ध्यान यदि भविष्य-वाणी ने आठवें बालक पर केंद्रित न कर दिया होता तो संभव था कि छठे या सातवें बालक की हत्या देखकर ही राज्यव्यापी विद्रोह हो जाता। परंतु इसका परिणाम यही होता कि बड़ी निष्ठुरता से उसका दमन कर दिया जाता और विद्रोहियों की शक्ति बड़ी कठोरता से सदा के लिए कुचल दी जाती।

उपनंद—कंस की शक्ति का भी कोई ठिकाना है! मगध के परम प्रतापी राजा जरासध का वह दामाद है, आर्यावर्त्त के अनेक प्रतापी राजाओं से उसकी घनिष्ठ मित्रता है और स्वयं उसकी शक्ति ही क्या कम है!

देवक—यही सब सोच समझ कर तो पिछले चार वर्षों से समस्त यादव-नायकों का संगठन अत्यंत गुप्त रूप से होता रहा है। देवकी के छठे-सातवें बालकों को जन-समाज ने अपना बालक समझा और उनके वध से वह वैसे ही क्षुब्ध हुआ जैसे उसी की औरस संतानों की हत्या की गयी हो।

उपनंद—(संतोष की एक लंबी साँस लेकर) बड़ी शांति से सब काम बन गया। कहीं कंस को जरा भी सूचना मिल जाती इस योजना और नीति की !

देवक—(दृढ स्वर में) देवकी का यह बालक तो तब भी बचता ही, परतु आज मथुरा में रक्त की नदियाँ बह गयी होतीं। कंस की सी मनोवृत्ति वाले कुछ पदाधिकारियों को छोड़कर आज सारा जन-समाज एक है। मथुरा के इस राजमहल के चारो ओर बने हुए गृहों में इस समय हमारे ही सैनिक अतिथि-रूप में सजग हैं। सकट के एक संकेत में क्या हो जाता, उसकी कल्पना करके ही मैं सिहर उठता हूँ।

उपनंद अच्छा ही हुआ कि कंस को कोई सूचना नहीं मिली। अब इस बालक का लालन-पालन तो निश्चिंत रहकर किया जा सकेगा।

देवक—इसमें मुझे सदेह है। मुझे भय है कि बहुत दिन की तो बात दूर, कल प्रातः ही कंस को यह सूचना मिल जायगी कि उसे छलने के लिए कोई षड्यंत्र रचा गया था और तब वह आततायी जो न कर डाले सो थोड़ा है। परंतु तब हम सब कठोर से कठोर यंत्रणाओं को भोगने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जायँगे। (कुछ रुक कर) हाँ, सुनो; मैंने तुम्हें एक आवश्यक कार्य मे रोक रखा था। तैयार हो तुम ?

उपनद—आज्ञा कीजिए। विदेश में रहने के कारण आपकी योजना से तो मैं अनभिज्ञ रहा ही, कोई और सहयोग भी न दे सका। अब जाति-सेवा का कोई कार्य मुझसे भी सपन्न हो सकता है—देख लूँ एक बार।

देवक—तुम शीघ्र राजमहल के पास जाओ। वहाँ गुल्मनायक से कहना कि मुझे कंस को कारागार की ओर भेजना है। वे बहुत सावधानी से अपने सैनिकों को हटा लें।

उपनंद—(चकपका कर) कंस को कारागार की ओर भेजना—मैं समझा नहीं !

देवक—वसुदेव इस समय तक यमुना पार कर चुके होंगे। वहाँ से कन्या लेकर उनके लौटने की मुझे तुरत सूचना मिलेगी। तब मैं हरा प्रकाश यहाँ से करूँगा। उसे देखते ही तुम कंस को सूचना देना कि देवकी के बालक जन्मा है और वह हड़बड़ा कर कारागार की ओर चल देगा।

उपनंद—मुझे ही यह सूचना देनी होगी! उस निरपराध कन्या के वध का पाप मुझ पर ही पड़ेगा!

देवक—भावुक मत बनो। सूचना तो क्षण भर बाद उसे मिल ही जायगी; परंतु तुम्हारे सूचना देने से हम सब उसके विश्वासपात्र बने रहेंगे। अभी यादव जाति का कल्याण इसी में है कि कंस हम पर विश्वास करता रहे। इस प्रकार तुम जाति के रक्षक ही समझे जाओगे।

उपनंद—परंतु यदि वह पूछ बैठा कि तुम्हें कैसे सूचना मिली तो क्या कहूँगा मैं?

देवक—तुम्हारी बात सुनते ही वह इतना घबड़ा जायगा कि कोई प्रश्न कर ही नहीं सकता और फिर इस समय तो उसका होश ही ठिकाने नहीं है।

उपनंद—यह सब ठीक है; परंतु वह या सेनापति यदि पूछ

ही बैठे तो क्या उत्तर दूँगा। (जरा हँसकर) मुझे तो बात बनाना भी नहीं आता।

देवक—तो कह देना—मैं सो रहा था कि राजमार्ग पर कोलाहल सुनायी दिया। जागकर मैंने सुना लोग कहते हुए जा रहे थे कि देवकी के बालक जन्मा है सुनते ही मैं आपको सूचना देने दौड़ा आया हूँ।

उपनंद—(मूल तात्पर्य की गंभीरता को न समझता हुआ) बड़ा जटिल कार्य सौंपा आपने मुझको।

देवक—और जानते हो, मैं क्या करूँगा ? मैं यहाँ से कंस के साथ कारागार जाऊँगा और उसे बार-बार उत्तेजित करूँगा उस बालिका का प्राण हरने के लिए।

उपनंद—कंस का विश्वास बनाये रखने के लिए यह भी आवश्यक है ?

देवक—केवल विश्वास जमाये रखने के लिए ही नहीं; वहाँ की परिस्थिति सँभालने के लिए भी मेरा उपस्थित रहना आवश्यक है—मूर्छित पहरेदारों को देखकर कंस कहीं शंकित न हो। संतान-स्नेह से बिलखती देवकी को देखकर कहीं वसुदेव ही भेद खोल देने को उतावले न हो जायँ !

उपनंद—मैं भी आऊँ वहाँ ?

देवक—तुम तो आओगे ही कंस के साथ।

उपनंद—परंतु देवकी की दशा तो मुझसे न देखी जायगी।

देवक—(दृढ़ता के साथ) देवकी की दशा ही नहीं, उस

कन्या का वध भी देखना होगा! और यह भी देखना कि देवकी का यह पिता कंस की नृशंसता को पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिए कितना निर्मम बनता है। (स्वर को कुछ नम्र करके) और यह सब इसलिए करूँगा कि उस अबोध बालिका का सरल मुख मंडल देखकर कंस ही कहीं द्रवित न हो जाय जिससे उसके पाप का घड़ा भरने से रह जाय।

उपनंद—तो जाऊँ मैं ?

देवक—हाँ, जाओ। हरा प्रकाश देखते ही कंस को सूचना देना।

[उपनंद का प्रस्थान। देवक दोनों झरोखों से बारी-बारी झाँकता है; एक बार द्वार खोलकर बाहर की ओर देखता है और फिर समय-यंत्र के पास जाकर खड़ा हो जाता है।]

देवक—(स्वगत) एक घड़ी और बीत गयी। अब तक वसुदेव वापस आ गये होंगे। (ऊपर की ओर देखकर) भगवन्! आप की दया से यदुवंश आज डूबते-डूबते बचा। आज मुझे विश्वास हो गया कि आप धर्म और न्याय की सदैव रक्षा करते हैं; आशा हो गयी कि जब-जब इस देश पर संकट आयगा, सदैव इसी प्रकार उसे दूर करते रहेंगे।

[साश्रु हाथ जोड़कर मस्तक झुकाता है।]

—:(*):—

दिवा-स्वप्न

स्थान—

असुरगुरु शुक्राचार्य के तपोवन में कच और देवयानी के कुटीर। दोनों का निर्माण एक ही शैली पर हुआ है और दोनों के तीन ओर एक ही से वृक्ष लगे हैं। देवयानी की कुटी के सामने विविध वर्णों के गुलाबों का हरा-भरा कुंज भी है जिसमें खूब फूल खिले हैं।

दोनों कुटीरों का फर्श खूब साफ लिपा है सजावट का कोई सामान भी उनमें नहीं है। कुश के दो दो आसन बीच में बिछे हैं और चार-पाँच एक कोने में लिपटे रखे हैं। दोनों कुटीरों में द्वार भी एक-एक ही है।

पात्र—

कच—देवगुरु आचार्य बृहस्पति का पुत्र जो शुक्राचार्य के पास संजीवनी विद्या सीखने आया है।

लतिका—देवयानी की समवयस्का सहेली।

समय—

चैत का आरंभ। एक पहर दिन बीत चुका है।

[तपोवन में असुरगुरु शुक्राचार्य के
राजती शांति थी शुचिता सरलतामयी।
आसुरी तमतामध्य पोषित होकर भी
निर्लिप्त रहे उससे वे नितांत सदा ही,
पंक-पोषित पूर्ण विकसित नीरज - से।

लता वेष्ठित कुटीर के द्वार पर खड़ा
कच निहारने लगा सुरम्य प्रकृति की
बिखरी अनंत सौंदर्य-राशि मनोहारी
अपार अनुराग से, विस्मय-विमुग्ध हो।

अति अनुराग से उल्लसित हृदय था—
बार-बार दृगों में छलछला रहा था जो।
बिताये थे अनेक मास-वर्ष जीवन के
इसी वन्य भूमि में, दूर रह स्वदेश से;
सुखी रहा अपार, ज्यों हो स्व-पितृ धाम में।
स्नेह की शीतल छाया में प्राणियों को सुधा-
से सुख का अनुभव होता ही है स्वर्ग के।

कच भी सौभाग्य से अनायास ही पा गया
स्रोत अशेष स्नेह का आश्रम में गुरु के।
शत्रु–गढ़ में बसकर भी निश्चिंत रहा
वह ऐसे, जैसे आत्मीयों के मध्य ही हो।
अनुभव अभाव का न हुआ उसे कभी।

अंत में सिद्ध की यहीं संजीवनी विद्या भी,
अतीव लालायित थे देवलोकवासी भी
चिरकाल से जिसके लिए, निर्भर भी था
जिस पर कल्याण देव-जाति समस्त का।

आज हृदय फूला न समाता था गर्व से
कि स्वदेश और स्वजाति के ऋण महत् से
सविनय मुक्त होने का अवसर मिला
जो कच को, निरंतर कठोर साधना के
पश्चात् और बसकर इस तपोवन में
शत्रुपुरी के, त्यागकर मोह स्व-प्राणों का,
ठुकराकर स्नेह माता-पिता-स्वजनों का।

कच के विस्मय का हेतु था नव रूप जो
धारण किया था फूल-पत्तों ने, कोंपलों ने,
कलिकाओं ने आश्रम की। सुपरिचित पूर्ण था
वह तपोवन के प्रत्येक पेड़-पौधे से,
विचरता प्रतिदिन वहाँ था नियम से।
परंतु आज प्रतीत होता था उसे जैसे
शुचिता से स्नान कर धारण कर लिये
हों नवीन परिधान अनुकूल रुचि के।

निश्चय कर चुका था वह लौट जाने का
स्वदेश को, सुफल जिससे तपश्चर्या का

उसकी स्वाद से चख सकें स्वदेशवासी।
गुरु और गुरु-कन्या के पूर्व ही विदा पा
लेना चाहता था इन प्रकृत-बंधुओं से,
शीतल औ' सुखदायिनी छाया में जिनकी
नित्य ही विश्राम किया था मोद से उसने
लौटकर गोचारण से, थक के श्रम से।
मधुर फल और सुमन सुंदर पाये
थे उनसे सर्वदा, सुर-वृक्ष हों वे जैसे।

समीप जा प्रत्येक पादप के खड़ा होता
सशोक वह, झुकाता शीश कृतज्ञता से,
माँगता क्षमा ज्यों अनजान अपराधों की।
टपकते फल, बरसते फूल उनसे,
शुभाशीर्वाद समझकर जिन्हें, करके
सादर ग्रहण, वह आगे बढ़ जाता था।

परिक्रमा कर एक बार तपोवन की,
लौटा कच कदलीदलों की झोली में लिये
फल-फूल मधु-सुरभिमय, उमंग में।
द्वार पर पहुँच कुटी के देखने लगा
खिली-अधखिली कलियों को बड़े चाव से।
अंतः प्रेरणा से अज्ञात उठा ली उसने
खिलती - सी एक मंजु-मनहर कलिका
सामने देख पुरुष को लजा रही थी जो।

विचारमग्न हुआ कच देखकर उसे।
तदनंतर गूँथने लगा माला सुमनों
की वह एकाग्रता से भीतर जा कुटी के।

प्रवेश किया तभी लतिका, ऋषि-बाला ने।
कच लीन था निज कार्य में, जान न पाया
आना उसका। खड़ी वह कुछ देर रही
समीप ही, एकटक देखती हुई उसे।
पश्चात अति लीनता देख उसकी लौटी
वह चाप दबाकर कुछ मुसकराती
हुई, कुछ विचारलीन होकर।

पहुँची
तब वह समीप गुरु-कन्या देवयानी
के उल्लासभरी। चकित हो देख सखी को
बोली गुरु-कन्या—]

जाते ही लौट आयी कैसे
एकाकी तू? मिले नहीं देवपुत्र कच क्या
तुझे आश्रम में? पर तू तो प्रसन्न लौटी
है रहस्यमयी!—

[पग दो बढ़ी देवयानी;
गौरवर्ण को चिंतित-से मुखमंडल के,

लाजभरी उत्सुकता की किंचित लालिमा
ने किया दीप्तिमान्, ठिठकी वह सकुचा के।

सखी ने उत्तर दिया मधुरता से बड़ी—]
मनोरथ तेरा—सहेलि ! अनुमान मेरा
सत्य हो—सफल हो। पहुँची जब मैं दबे
पाँव द्वार पर उनके कुटीर के, देखा—
देवपुत्र कच संचित नव सुमनों को
सामने रखे गूँथने में मग्न हैं मालिका
एक सुंदर-सी इतनी लगन से जैसे
सारी कला-साधना का अपनी उसमें ही
उपयोग वे कर डालना चाह रहे हों।

खड़ी रही कुछ पल मैं समीप उनके;
परंतु लीनता ने उनकी सुधि न होने
दी उनको मेरे आने की; भय था उसको
सम्भवतः कि साधक का मेरे ध्यान कहीं
बँट न जाय सूचना से किसी के आने की।
उचित नहीं समझा मैंने भी, बाधा बनूँ
मैं उनके प्रियतम कार्य में; लौट आयी
मैं अतएव बिना उनसे बात किये ही।
फिरकर दूर से देखा जब मैंने उन्हें—
वे तब भी वैसे ही लीन थे निज कार्य में।

[देवयानी सुनती रही बात सहेली की

पूर्ण शांति से ; ललित कपोलों की लालिमा
हलकी, गहरी हुई क्षण भर के लिए;
उज्ज्वलता कमल-नेत्रों की कौंध-सी गयी;
तदनंतर प्रकृतिस्थ हो, गंभीर हुई।
बोली नहीं परंतु वह कुछ भी सखी से।

थाह लेने को हृद्-भाव की तभी उसके
प्रस्तुत हुई आली-दृग-दूतिका, जिज्ञासा-
सतर्कता से, पर असफलता ही मिली।

कुछ पल बाद उत्साहित करती हुई
देवयानी को, बोली वह पुनः स्निग्धता से—]
प्रिय सखी, देखती हूँ, विशेष प्रसन्नता
नहीं हुई तुझको इस सुसमाचार से।
देवपुत्र-ग्रथित माला शोभा बढ़ायगी
शंखिनी-सी इस ललित ग्रीवा की—कल्पना
यह रोम-रोम पुलकित कर रही है।

[देवयानी की भावभरी बड़ी बड़ी आँखों
ने देखा सखी की ओर, जैसे कह रही हों—
अनुमान तेरा मंगलकारी मेरे लिए
है, परम अभीष्ट भी, सत्य हो, शुभ यही
कामना है इस अधीर हृदय की मेरे;
परंतु कहूँ कैसे, रह-रहकर कैसी

रीती-सी भावनाएँ उठती हैं हूकभरी
कि अकारण ही मन गिर जाता है मेरा;
धैर्य देना चाहती हूँ बहुत अपने को,
परंतु आधार दृढ़ नहीं पा रही कोई।

नयनों की मूक भाषा यह लतिका नहीं
सुन-समझ पायी ठीक-ठीक, देवयानी
ने भी न कहा शब्द कोई श्रीमुख से; फैली-
फैली-सी आँखों से एकटक देखती रही;
पैनापन था उसकी दृष्टि में, लीनता थी,
विचारशून्य हतबुद्धिता थी, आर्द्रता भी।

सखी को बोलना पड़ा फिर—]
अनुमान की
मेरे, संदेह है, सिद्धि में तुझे कुछ अभी ?

[दूर तक दृष्टि डालकर द्वार से कुटी
के एक बार शीघ्रता से, लंबी सी साँस ले,
बोली देवयानी तटस्थ-सी, आर्द्र स्वर में—]
अनुमान तेरा सत्य के समीप कितना
है, कैसे कहूँ; परंतु सुख-सौभाग्य ऐसा
सहसा पा सकूँगी मैं, विश्वास नहीं होता
मुझे इस पर। जन्म से वंचित रही मैं
मातृस्नेह से—माता की गोद दुलारभरी,

मोदभरी होती है कैसी, जाना नहीं कभी।
पिता के, तुम सबके भी, स्नेह-दुलार से
जीवित रह सकी मैं; फिर भी न जाने क्यों
अभाव का अनुभव होता रहा मुझको—
मेरे रीते हृदय को।

[रुकी पल भर को
इतना कहकर देवयानी; दृष्टि तभी
सतेज हुई किंचित, मुख पर कांति-सी
चमक गयी एक बार और सजीव हो
गया स्वर भी सहसा उसका। पुनः बोली—]
देवपुत्र कच को देखकर समीप में
परम तोष का अनुभव करती रही
मैं पिछले एक वर्ष से— ऐसा सुख जो है
विशेष प्रकार का और ऐसी भावमयी
अनुभूति है जिसमें कि न तो कारण ही
समझ में आता है कोई, न जिसकी व्याख्या
ही करने की क्षमता रही मुझमें कभी।
आज उनके जाने की बात सुन लगता
है मुझे, जैसे छीन रहा हो कोई बल से
मुझसे चीज वह जो अब तक मेरी थी,
जिस पर एक मात्र अधिकार था मेरा,
जिसके हँसने पर हँस पड़ती थी मैं
अनायास ही, उदास होने पर जिसके
अनुभव होता, कलेजा ही निकाले लिये
जाता हो कोई।

[मंत्र-मुग्ध सखी सुनती थी
स्वीकारोक्ति सरलहृदया देवयानी की;
चित्त में आया एक बार उसके, रोक दूँ
इसे मन के भावों को प्रकट करने से
इस प्रकार, जो छिपे नहीं रहे मुझसे;
परंतु सोचा फिर—व्यस्त इसे रखना है
देवपुत्र के यहाँ आने तक; ठीक नहीं
होगा रोकना इसे इस समय। आगे आ
तब लतिका ने हाथ रखा देवयानी के
स्कंध पर कोमलता-आत्मीयता से बड़ी
और स्नेहभरी दृष्टि से देखती ही रही।

देवयानी को अवकाश कहाँ था इतना
करती जो लक्ष्य मन के भावों को सखी के;
पूर्ववत् स्वर में कहती रही वह—]

मेरी
चिरसंगिनी है तू, ज्ञात हैं मर्म तुझको
मेरे सभी, बता तू ही कि खोया-खोया मैं क्यों पाती
हूँ इन दिनों अपने को अकारण ही?
और इसी से हृदय मेरा स्वीकार नहीं
कर पाता तेरे अनुमान की सत्यता को,
चिर रंक अपार निधि-लाभ पर जैसे
विश्वास नहीं कर पाता—ध्यान हो आता है
संभवतः उसे भाग्यहीनता का अपनी—

[कहते - कहते स्वर देवयानी का धीमा पड़ गया; मुख - मंडल पर थिरकती दीप्ति जैसे लुप्त हुई, विकसित कंजों - से विशाल नेत्र दोनों संकुचित-से हो गये।

बात सुन देवयानी की सखी हँस पड़ी; सहसा चकित करती शुक्र-तनया को बोली, बहलाती हुई अबोध बाला को मानो—]
रूठा है हृदय तेरा; उस उल्लसित को दबा रही है तू प्रिय के स्वागत के लिए जो मचलता है; उसके संकेत से जो चले तो क्षण भर में ही अनमनापन सारा दूर होगा; जानती नहीं—वातावरण तो हँसते के साथ ही स्वतः हँस पड़ता है। आली, समय थोड़ा है, अवसर क्यों खोती है व्यर्थ चिंता में; स्वागत साज सजा मारे, गान-रत मैं भी होऊँगी हर्षातिरेक से।

[सचेत हुई नव बाला इस प्रेरणा से; नेत्रों से छलकी लालिमा ने अनुरक्ति की रंजित कर दिये मंजु कपोल उसके, प्रतिबिंबित हुए कर्णमूल भी साथ ही। बोली देवयानी—झंकृत हुई वीणा ज्यों—]
आली मेरी, देख पुनः कर रहे क्या हैं वे ? गूँथ लूँ मैं तब तक अरुण कमलों की

मालिका, व्यक्त स्वतः कर दे जो कामना को
अंतस्तल की मेरे और मूक ही रहूँ मैं।
कह भी कैसे सकूँगी बात अनुराग की
उनसे स्वमुख से ?

[सस्नेह अवलोकती
सखी बाहर की ओर चली; सदुत्साह ने
जैसे प्रदान कर दी त्वरित गति उसे।
देवयानी तभी पीठिका से कुशासन को
उठाकर मृदु कंज-पेटिका रत हुई
निर्माण में मालिका के अति चाव से—कला
से अपनी रिझा लूँगी सहज ही, भाव-सा
खेलता था आभामय मुख पर उसके।
प्रातः संचित मंजुल कंज-कलिकाएँ भी
पुलकित कर-स्पर्श से मुदित हो खिली
जा रही थीं अथवा उल्लास से नव बाला
के उल्लसित हो-हो मंद-मंद मुस्काती थीं।

प्रथम कलिका को चुनकर सावधानी
से भावमग्न-सी कुछ बोली वह उससे—]
आली, स्नेह-जल से सींच सींच कर तुझे
इतना बड़ा किया है, विश्वास है मुझको,
सहायिका तू बनेगी, विनय-याचना से
मेरी द्रवित होकर निरवलंबता की

स्थिति में आज, क्षमा करके स्वार्थ को मेरे,
सुरभिमयी ऐ मंजुलिके मकरंदिनी!
देवपुत्र के प्रति असीम अनुराग को
मेरे सहज ही तू व्यंजित कर सकेगी—
प्रिय सुरभि से सगुणता को, लालिमा से
रुचिकर अनुराग को, चारु मृदुता से
सरल सुकुमारता को सुभाव की मेरे।

[अर्द्ध मालिका अभी न गूँथ वह पायी थी;
सहसा विरत हो बैठी कार्य से अपने;
गुनगुनाती-सी बोली पुनः—]

आवश्यकता
क्या है सुमनमाला के इस आडंबर की;
निजकर-मालिका से ही सुशोभित करूँ
इस बेला पर कल कंठ देवपुत्र का।
स्वतः व्यक्त हो जायगा अनुराग यों मेरा
असीम उनके प्रति; और मतिमान वे
जान जायँगे सुभाव अंतस्तल का मेरे
सहज ही। मनोहर प्रतिमा को उनकी—
स्थापित हुई जो मेरे मानस-मंदिर में—
स्नान कराती हूँ कैसे प्रेम-रस ऊर्मियों
से, पूजती हूँ चरण कमल सुमनों से
श्रद्धा के, कितनी लालसामयी कामना से—
व्यक्त यों हो जायगा अति सुगम रीति से,

शब्दों में आज तक प्रकट न कर सकी,
लाज और संकोचवश होकर जिसे मैं।

[सुखद कल्पना में विभोर जब हो रही
थी देवयानी ध्यानमग्ना, तन्वंगी लतिका-
सी मृदुल हेममयी, दृष्टि पड़ी सहसा
पाटल के मनोरम कुंज पर उसकी,
हलके-गहरे लाल रंग के फूल खिले
थे जहाँ, होड़-सी कर कर देवयानी के
अरुण कपोलों से; बार बार लज्जित हो
फीके पड़ जाते थे जो। पक्षियुग्म भी नाना
क्रीड़ा-रत थे विविध वर्णों के समीप ही
उमंग भरे, प्रीति भरे, हर्षोल्लास भरे।
हरे-भरे उपवन के बीचोबीच में था
सघन कुंज वह स्वागत जहाँ अपने
प्रिय परम का नहीं कर सकी थी अभी;
उत्कट लालसा भर दबाये थी मन में
वर्षों से वह।

अकस्मात ही देवपुत्र की
मंजुल मूर्ति भी साकार हो उठी उसके
समक्ष, सौम्य मुख पर हँसी खेलती थी,
नयनों में दीप्ति थी, सुप्रीति की स्निग्धता थी।

सोत्साह स्वागत किया तरुणी ने चाव से;
रोम रोम थिरक उठा पुलक से तभी,
लालिमा गहरी हुई मृदुल कपोलों की।

क्षण भर देखते रहे परस्पर वे यों
देख रहे हों अंकित दूसरे के दृगों में
सूक्ष्म सुमूर्ति अपनी कौतूहल से बड़े।

सुध-बुध खो बैठी देवयानी, कच को
देखकर; मद्‌भरी दृष्टि प्रियतम की
दृग-द्वार से बाला के प्रविष्ट हो, मद की
तरंग लहरा गयी ज्यों रग-रग में हो;
परंतु तभी उसके सज्ञान अंतर ने—
अनभिज्ञ था जो सर्वथा इस व्यापार से—
सजग किया सरल मानस-निवासिनी
लाज-वृत्ति को, अति तत्परता से जिसने
मंत्रणा दी स्नेह से बड़े-बड़े लोचनों
को दृष्टि नीचे कर लेने की, प्रिय-दर्शन के
लोभ को संवरण करके थोड़ी देर को।

दायें हाथ की दूसरी उँगली में पहने
था कच स्व-नामांकित मनोहर मुद्रिका;
प्रिय थी तपोवनवासिनी देवयानी को,
जो बहुत ही; संयोग से एकांत कुंज में
आज देखकर कच के सुंदर कर में

उसे, निकल गया मुख से—]

यह मुद्रिका !

[उत्साह से पूर्ण हो गया कच, विषय का परम रुचिकर सूत्र पाकर, बोला—]

हाँ,

मुद्रिका नामांकित यह, देखा था पहली
बार जब तुम्हें तभी चाह हुई थी मुझे
पहना देने की तुम्हारी पतली-पतली
इन सुकोमल उँगलियों में दुलार से;
परंतु संकेत न पाकर तुमसे कोई,
इच्छा रहते हुए भी न कर सका ऐसा।
आज्ञा दो आज शुभे ! चिर संचित कामना
अपनी यह पूरी कर लूँ मोद-मग्न हो।

[लाजवंती देवयानी ने देखा संकोच से दृष्टि उठाकर जरा सी, धीरे धीरे बढ़ा कर दाहना कर, फिर पीछे कर लिया।

कोमलता से बढ़ी कच ने बायें हाथ में लेकर कर-कमल उसका पहना दी निज नामांकित मुद्रिका अत्यंत चाव से।

दृष्टि स्थिर कर ली हेमवर्णा कोमलांगी ने मुद्रिका पर और कच देख रहा था सुमुखी को दबा कर उमड़ने प्रेम को

चारु मुद्रिका तब चूम के देवयानी ने
दायाँ हाथ पकड़ना चाहा देवपुत्र का
पहनाने को स्वयं मुद्रिका प्रत्युत्तर में।
तभी पूछा कच ने—]

स्वीकार करना नहीं
तुम चाहती हो भेंट मुझ अकिंचन की
तुच्छ समझकर, कहो ?

[मुख नीचा किये
ही देवयानी बोली सुधा-वृष्टि हुई जैसे—]
धरोहर मेरी मान के इसे आप रखें
अपने पास ही; कारण न पूछें मुझसे।

परंतु खाली मुद्रिका नहीं ले सकता मैं—
[मंद मंद मुसकाते उत्तर दिया कच ने]

पायी हुई वस्तु वापस नहीं करूँगी मैं
और न दी हुई वस्तु लौटाऊँगी कभी,
नीति है मेरी यही। और सुंदर मुद्रिका—
धरोहर मेरी—खाली ही नहीं दे रही हूँ;
इसके साथ अपने को भी समर्पित मैं
करती हूँ स्वतः—साक्षी मेरा अंतर्यामी है;
स्वीकार करके कृतार्थ करेंगे मुझको,
आशा है यही आपसे—

[—कहा देवयानी ने।]

सत्य कहती हो ?

[—दो बार यही प्रश्न पूछा
कच ने और स्वीकृति भी दी देवयानी ने।
हर्ष को दबाकर बोला वह—]

भाग्यवादी
नहीं था आज के पूर्व तक वरानने !
निज कर्म पर ही पूर्ण विश्वास था मेरा;
आज स्वीकार करता हूँ मैं भूल अपनी;
भाग्य ही प्रबल है प्राणी का, जो खींच लाया
मुझे शुभे ! संपर्क में तुम्हारे; क्योंकि बदा
था भाग्य में मेरे अनमोल रत्न तुम-सा।

[उत्तर नहीं दिया कुछ भी देवयानी ने;
पहना दी मुद्रिका वही उसके दाहने
हाथ में प्रीति से चूमकर बार-बार, लगा
कर दोनों नेत्रों से और माथे से अपने।
अनुराग भरे लोचन उसके गड़े थे
अब भी प्रिय-नामांकित मुद्रिका पर औ'
सुरभित स्वाँस से कमलाननी बाला की
पुलकित परम हो रहा देवपुत्र था।

क्षण भर बाद कहने लगी देवयानी
मधुरता से—]

भाग्यवादिनी मैं अवश्य हूँ;
परंतु भाग्यवादी तुम कैसे कहते हो

अपने को जो करते रहे उपेक्षा मेरी
इतने समय तक, समीप पाकर भी
मुझे न जाने क्या परखते रहे मुझमें.
और कौन जाने किन किन कसौटियों पै
कसने के बाद यों कृपा हुई है आपकी।
सौभाग्य तो मुझे सराहना चाहिए अपना,
चिरसंचित साधना जो पूर्ण हो सकी है
आज मेरी।

ऐसा मत कहो मंजु कलेवरे!
मर्यादा के कठोर बंधन में जकड़ा था;
शिथिल करने में जिसको समय लगा
इतना। रोम-रोम में अब समा गयी हो,
जीवन का सार हो तुम, शक्ति समस्त हो,
क्रियाशीलता भी मेरी हो। सामने रहो जो
सदैव तुम मेरे देवयानी! तो इतने
महत् कार्य करने की क्षमता आ जायगी
मुझमें कि चकित रह जाओगी तुम भी।
क्षण भर देखे बिना तुमको विकल हो
जाता हूँ मैं कि शरीर से प्राण खींच लिया
हो जैसे किसी ने और रक्त धमनियों से।
आश्वस्त अतएव करो मुझे कि मेरी
होकर ही रहोगी सदा तुम चंद्राननी!

[भावभरे आवेश में आगे बढ़, उसका
दाहना हाथ पकड़ देवयानी ने दबा

लिया औ' कहने लगी तब सुधाभाषिणी—]
तुम्हारी हूँ और सदा रहूँगी तुम्हारी ही।

किसकी हो ?

तुम्हारी हूँ।

किसकी हो ?

तुम्हारी

भुलाओगी नहीं मुझ अकिंचन को कभी ?

प्रियतम ! विश्वास करो—आसीन तुम हो
ममतामय हृदय-सिंहासन पै मेरे,
और जीवन भर प्रतिष्ठित रहोगे भी।
ठीक रहेगी स्मरणशक्ति मेरी जब लौं;
मानसी पूजा में तुम्हारी लीन मैं रहूँगी।

[मौन रहकर कुछ देर कहा कच ने—]
मुद्रिका, प्रिये ! यह ग्रहण की है तुमने
और पहनायी है मुझे अन्त प्रेरणा से।
भाव-लोक में प्रणय-सूत्र में बँध गये
हैं इस प्रकार हम दोनों सदा के लिए;
स्वीकार है ?

स्वीकार है और मैं तुम्हारी हूँ
हृदय से।

तब आशा है क्या तुम्हें कि सुखी

रह सकोगी तुम साथ मेरे, संतुष्ट भी ?

हाँ, मैं सदैव सुखी रहूँगी साथ तुम्हारे।

तब तुम्हें प्राण, कांता, सहचरि समझूँ
और संबोधन भी करूँ तुमको अब से ?

[नत हो गया मस्तक रमणी का लाज से।
कपोलों की अरुणिमा फैली कर्णमूलों के
छोर तक दोनों ओर; सुमुख से बोल भी
न निकला उसके स्वीकृति-अस्वीकृति में।

दुलार भरे स्वर में दोहराया कच ने
वाक्य अपना; पर मुख से न कह सकी
देवयानी फिर, बस स्वीकृति - सूचना ही
दी उसने संकेत से।

अठखेलियाँ सूझीं
कच को; बोला विनोद से—]

संकेत से नहीं,

कोकिल की काकली सुनने को विकल हैं
श्रवण मेरे; बोलो, संबोधन मेरे तुम्हें
स्वीकार हैं कि पुकारूँ तुम्हें मैं प्राण! कांते!
सहचरि!

जैसी इच्छा—

[सर झुकाये बोली
देवयानी धीमें स्वर में। मुख पँ उसके
हास की एक रेखा दौड़ गयी लक्ष्य जिसे
कर लिया रसिक की सतर्क दृष्टि ने भी।

बोला कच यों सस्नेह--]
कांता हो तुम मेरी ?

[उत्तर न दे देवयानी ने स्वीकार किया
संकेत से ही।

दूसरा प्रश्न हुआ—]
अच्छा तो
कहो कि क्या हो तुम मेरी ?

[चुप रह गयी
इस बार देवयानी फिर। हृदय हुआ
पुलकित उसका देखकर चतुरता
प्रियतम की।

कच ने फिर सहास कहा—]
एक बार स्वीकार कर चुकीं जब, कहने में
सकोच क्या, कह दो, क्या हो शुभे ! तुम मेरी ?

कांता—

[शीघ्रता से बड़ो कहा देवयानी ने
बिना किसी भूमिका के जरा धीमें स्वर में।

सुन-समझ लिया कच ने, परंतु बोला
वह अनजान बन—]

कूकती है कोकिला
जब तान ले, मुखरित हो जाता तब है
वातावरण सारा, पर काकली तुम्हारी
इतने समीप रहनेवाला पुजारी भी
तव स्वर का न सुन सके क्या उचित है ?
जानती हो कितने समीप हूँ मैं तुम्हारे ?

[हाथ छोड़कर उसका देवयानी बोली
सरलता से जैसे आशय न समझो हो—]
यही हाथ, डेढ़ हाथ की दूरी है तुममें—
मुझमें—[और हँस पड़ी ।]

[प्रतीत-सा हुआ
कच को कि लाल कोरवाली हेम-संपुटी
से, हीरों की अति चारुता से जड़ी कनियाँ
अकस्मात ही चमककर मुद गयी हों ।

कृत्रिम गंभीरता से, दबाकर अपनी
प्रसन्नता को अंतर की, कहा रसिक ने—]
हृदय के भीतरी कक्ष में, प्रीति से, बसा
लिया जाता है जब किसी सौभाग्यशाली को,
तब हाथ, डेढ़ हाथ, दूर ही रह जाता
है स्थान प्रियतम वर्गवालों के लिए भी—

सत्य है पूर्ण यह और सर्वविदित भी।

तो कौन बसा है, बताओ, हृदय में मेरे?
[पूछा देवयानी ने दबाकर उल्लास को]

कैसे कह सकता हूँ, अंतर्यामी हूँ नहीं;
नया - नया ही तो परिचय है. भेद कैसे
तुम्हारे सब जान सकता हूँ अबोध मैं!
परंतु कभी कभी होना उदास तुम्हारा!
कैसे कहूँ तुमसे! कैसे भाव उठते हैं
मन में मेरे उस समय! क्या बीतती है —
[कहते-कहते वह यों ही खिन्न हो गया।]

यह क्या? तुम अप्रसन्न हो गये मुझसे?
बताओ तुम्हीं, हँसूँ-बोलूँ नहीं तुमसे मैं?
तुम तो भूल जाओगे मुझे बंधु-बांधवों
में जाकर, मिलकर स्वजनों से और मैं?
एकाकिनी निर्जन कुटीर में जीवन की,
हा! सूनी घड़ियाँ बिताने को रह जाऊँगी।
तब केवल इन स्मृतियों को लेकर ही
बह ा सकूँगी अपने को और प्राप्त हो
सकोगे क्षण भर के लिए साकार होके
प्रियतम! तुम मुझे इन्हीं के माध्यम से।

[अश्रु छलछला आये देवयानी के, रुँधा
कंठ भी यह कहते-कहते; प्रणयी ने

तभी आगे बढ़ पकड़ लिये हाथ दोनों
उसके बड़े स्नेह से और बोला यों—]

प्रिये
मेरी ! मैं भी हँसी ही कर रहा था तुमसे।
कष्ट पहुँचा तुम्हें मेरी बात से, अपने
इस अपराधी को स्वपाश में बाँधके जो
चाहे दंड दो अथवा हाथ जोड़ता हूँ मैं,
क्षमा करो।

प्रियतम मेरे—

[हाथ छुड़ा के,
मुख को उसके बंद करती हुई बोली
देवयानी—]

ऐसी बात तुम न कहा करो;
अपराधिनी मैं हूँ; अकारण उदास हो
कर दुख पहुँचाया है तुमको। तुम्हारी
किसी बात से भी कष्ट होगा मुझको - ऐसा
सोच ही नहीं सकती मैं। सत्य तो यह है
कि रोम-रोम पुलकित हो जाता है मेरा
तुम्हें देखकर, अंग-अंग फड़कता है
सुस्वर सुनकर और स्वर्गीय सुख का
अनुभव करती हूँ तव प्रिय स्पर्श से।

तब कहती क्यों नहीं एक बार प्रेम से,
मेरे संतोष के लिए—कौन हो तुम मेरी ?

प्राण, कांता, सहचरि—अब तो प्रसन्न हो ?

[हर्षित कच बोला—]

एक बार फिर कहो।

प्राण, कांता, सहचरि—

[दृष्टि नीची किये ही
सरल भाव से देवयानी ने पुनः कहा।]

तीसरी बार और कहो—प्रियतमे मेरी।

प्राण कांता, सहचरि—

[कंठ पुलकित हो
गया यह कहते-कहते देवयानी का,
स्वर में धीमापन भी आ गया संकोच से।

अति हर्ष से फूल उठा कच यों रंक ने
अप्रत्याशित परम निधि प्राप्त कर ली
हो अनायास। बोला वह—]

निज याचक की
याचना पूरी कर पूर्ण संतुष्ट किया है
तुमने, परंतु अकिंचन हूँ मैं सर्वथा;
अतएव निवेदन भर कर सकता
हूँ—ऐसा ही प्रेम-भाव बनाये रखना सदा।

[इतना कहकर कच ने मृदु पल्लवों
की पेटिका से सुमन मंजुल गुलाब के
हाथ में ले पूछा देवयानी से—]

प्राण ! कांते !
बता दो इनमें कुसुम कौन पसंद है
तुमको आकृति में, सुवर्ण में, सुगंध में ?

[हँसी देवयानी, पश्चात संकोच से बोली—]
मेरी रुचि का तो एक ही सुमन खिला है
संसार की वाटिका में. चुनना था एक को,
सो चुन लिया अपनी पसंद का स्वतः ही;
अब प्रश्न ही नहीं उठता रुचि का मेरी ।
जगत के परम नियंता से प्रार्थना है
करबद्ध यह मेरी कि सुरक्षित रहे
पुष्प वह मेरा, सुरभित करता रहे
युग युग लौं चतुर्दिक वातावरण को,
शोभा बढ़ाता रहे मेरे कक्ष की, मेरी भी ।

[छलछलाया अंबु दृगों में देवयानी के;
प्रेम-विभोर हो, हाथ पकड़ के प्रिय के
जोर से, छिपा लिये उसने नेत्र अपने
बायीं बाहु से ।]

ऐसा प्रलोभन न दो मुझे ।
प्रवासी हूँ मैं जानती हो तुम, जकड़ा हूँ
इतना परिस्थितियों से कि चाहकर भी
तुमको अपना नहीं सकता—क्षमा करो
मुझको विवशता पर, रुष्ट हुए बिना ।

प्रियतम ! प्रवासी हो तुम, जानती थी मैं;
परंतु मोह-ममतामयी नारी मैं—कैसे
भूलूँगी तुमको—हृदयाकाश के चंद्र को।
हाय ! मुझसे तो वह साधारण चकोरी
कहीं भाग्यशालिनी हैं जो अपने शशि का
प्रिय सुदर्शन तो प्रति दिन पा लेती है;
परतु मैं ! आह ! अपने प्रिय चंद्र की
एक झलक भी पाने को तरस जाऊँगी।
अनंत प्रेम-सिंधु लहराता हो जिसके
सामने, पर प्रेम की एक-एक बूँद के
लिए भी तरस-तरस के रहना पड़े
जिसे—उससे भी अधिक भाग्यहीना हूँ मैं।

[व्यथित हुआ कंठ उसका, अश्रु झलके
कमलनयनों में, जिन्हें रोक सकने में
असमर्थ होकर दोनों हाथों से प्रिय के,
अपने नेत्रों को छिपा लिया उसने तभी।

उधर कच भी न रोक सका अपने को;
हृदय भर आया अनायास उसका भी,
पर स्वर को संयत कर बड़े धैर्य से,
बोला वह—]
प्राण ! लौकिक नहीं किंचित भी,
भावनामय है संबंध हम दोनों का; औ'
भावलोक में प्रिय पात्र से विछोह होता

ही नहीं कभी; तब क्यों आकुल होकर यों
धैर्य खो रही हो तुम ?

सत्य कहा तुमने;
परंतु इतने समय तक मैं छाया - सी
साथ रही तुम्हारे कभी प्रत्यक्ष में, कभी
कल्पना में, और इस रम्य उपवन की
प्रत्येक वस्तु सुरंजित है अनगिनती
मनोरम स्मृतियों से प्रियतम ! तुम्हारी;
दृष्टि जिस जिस वस्तु पर पड़ेगी सौ-सौ
स्मृतियाँ साकार हो उठेंगी सामने मेरे;
तब कहो, कैसे धैर्य दूँगी मैं अपने को ?

कांते ! जानती हो, संबंध हमारे लोक के
स्थायी नहीं होते। पूर्व जन्म के संस्कारों से
मिलन होता है अपरिचित प्राणियों का;
पुण्य शेष रहते हैं जब तक हमारे,
मधुर मिलन के परम दिव्य सुख का
अनुभव करते हम सब रहते हैं।
संचित पुण्य हमारे अब समाप्त ही हो
गये जान पड़ते हैं, जो अपने कलेजे
पर पत्थर रखकर हमें बिछुड़ना
पड़ रहा है। अतएव भूल जाओ मुझे
यह सोचकर, संबंध हमारा था यहाँ
इतने ही दिनों का प्रिये !

[वाक्य यह पूरा
करते-करते कच निज धैर्य खो बैठा
औ' अश्रु बहने लगे उसके कपोलों पै ।
देवयानी भी रो पड़ी फूट फूट के, बोली—]
समझ में मेरी नहीं आतीं सूक्ष्म बातें ये ।
रोपे-सींचे हैं उपवन के वृक्ष जितने
तुमने, फूलने-फलने लगे हैं, बताओ
उनके फूल-फल मंजु-मधुर देखके
जब ध्यान आयगा तुम्हारा, सांत्वना दूँगी
मै तब क्या कहकर अपने हृदय को ?
पाटल के ये सुमन जो चुने हैं तुमने,
हिले-मिले और सुपरिचित इतने हैं
तुमसे कि स्पर्श पाकर कोमल करों का
तुम्हारे, देखो अति पुलकित हो रहे हैं ।
इनकी एक-एक पंखुड़ी को, चंद्र मेरे !
सुरक्षित रखूँगी मै जब पास अपने—
सबल वेही होंगी मेरी जीवन-यात्रा में—
तुम्हारे समीप न रहने पर इनको
देखकर हूक उठेगी कलेजे में मेरे,
तब आह ! सहन कैसे मैं करूँगी उसे ?

ठीक कहती हो देवयानी ! पुकारता है
एक बार 'प्रियतम' जिसको, स्थान देता
है हिय में भूल नहीं सकता कोई उसे;
भूलने की बात भी कहना, नीति नहीं है—

मोह-ममतामयी मानवता की दृष्टि से ।
ररतु अनुरोध है तुमसे, कांते ! मेरा—
याद कर-करके मेरी, चित्त को अपने
बार-बार मत दुखाना और नाम मेरा
ले - लेकर प्रेयसि ! कुम्हलाने मत देना
:ख-कमल-मुख को अनुपस्थिति में मेरी ।
दुख होगा इससे बहुत मुझको कांते !—
प्रेयतम को तुम्हारे । बात अब लौं कभी
टाली नहीं तुमने मेरी. वचन दो मुझे —
मान लोगी इसे भी—शपथ है तुम्हें मेरी ।

प्रेयतम ! प्रियतम ! शपथ न धराओ
अपनी मुझको तुम । कहं' तुम्हीं सरित!
भूल सकती है कैसे सागर को अपने
कल्लोलती है मुदित हो अंक में जिसके;
चकोरी चंद को, कमलिनी प्रभाकर को,
उल्लसित - पुलकित और विकसित हो
जाती हैं सहज ही सुदर्शन से जिनके ?
फर भी सांत्वना के लिए तुम्हारी देती हूँ
चन यह शक्ति भर संयत रखूँगी
पने को, रोते हृदय को बहलाऊँगी
ब प्रीतिमयी बातों का स्मरण कराके;
लखते मन को धैर्य दूँगी, एकांत में
-रोकर पुकारना चाहेगा जब तुम्हें
इ मूक स्वर में विकल औ' अधीर हो ।

देवयानी ! प्रिये ! जग में सभी ऐसे नहीं
जन्मते, कामनाएँ जिनके अंतस्तल की
पूर्ण समस्त हो जाती हों; यंत्र-सम लगे
रहते हैं क्रिया-कलाप में वे संसार के।
समझता जन समाज सारा है—सुखी हैं
सब भाँति और सर्व साधन-संपन्न भी।
परंतु केवल वे या उनका भगवान् ही
जानता है कि रीता-रीता हृदय उनका
है कैसा और अभाव है उसमें कितना।
जीर्ण-जर्जर होते जाते हैं नित्य शीघ्रता
से, एकाकी नीरस दिन बिताते हुए वे।
ऐसे भाग्यहीनों में हा ! गिनती है मेरी भी।

[वाक्य पूरा करते - करते स्वर उसका
भरा यों उदासी से, खिन्नता से, निराशा से
कि कंठ रुँध गया कुछ समय के लिए;
पश्चात् रुककर पल दो चार, स्वर को
संयत कर, लेकर साँस लंबी आह-सी,
बोला पुनः देवपुत्र कच धीमें स्वर में—]
जाता निज गृह हूँ तुम्हें छोड़कर यहाँ;
कभी संलाप-साहचर्य की तो भविष्य में
बात दूर, दर्शन दूर से भी हो सकेंगे
कभी, कौन जाने ? ऐसी-ऐसी बातों को मेरी
सुन कर दुख होता होगा बहुत तुम्हें;
परंतु जानती हो तुम स्वयं ही प्रेयसी !
स्वप्न में सोच नहीं सकता मैं बात तुम्हें

दुख देनेवाली; दुख की छाया भी न छुए
तुम्हें—यही हार्दिक शुभ कामना है मेरी।

[भाव के आवेश में बढ़ के आगे कच ने
रख दिये हाथ स्कधों पर देवयानी के,
देख रही थी जो एकटक ओर उसकी,
सुन रही थी वाणी मुग्धता से—भोली-भाली
चितवन में भरी थी भावना लीनता की,
तिर रही थी जो डबडबाते अश्रुओं में।
कथन तब निज पूरा किया कच ने यों—]
भावुक कुछ अधिक हूँ, तुम जानती हो,
भली भाँति परिचित हो मेरे स्वभाव से।
अतएव कहना है यही कि जीवित मैं
रह सकूँगा तभी तक जब तक मेरी
स्मृति को पालती रहोगी प्रेयसि ! प्रेम से;
प्राण रहेंगे मेरे स्मरण में ही तुम्हारे।
जिस दिन भुला दोगी तुम मुझे, प्राणों का
मेरे अंत हो जायगा।

[अति विकल हुई
देवयानी, अश्रुधारा बहने लगी नेत्रों
से, हृदय धड़कने लगा बड़े वेग से
अंतिम वाक्य सुनते-सुनते। शीघ्रता से
बढ़ आगे मुख बंद कर कच का बोली।
वह—]

अशुभ बात प्रियतम ! मत कहो।
मुझे दुख होता है बहुत ही; चाहती हूँ
मैं तो, मेरी भी आयु लेकर जीवित रहो
तुम। मत सोचो कि खिन्न हूँ मैं अभाव से
लौकिक संबध के। विश्वास करो, जरा भी
कामना नहीं है मुझे शरीर के सुख की।
तुम्हारा प्रेम पाकर ही धन्य समझती
हूँ अपने को। हृदय में स्थान दिया मुझे,
इतने से ही पूर्णतः संतुष्ट हो गयी हूँ।
परंतु एक भिक्षा अवश्य माँगती हूँ मैं—
मुझे छूकर कह दो कि अनिष्ट अपना
तुम किसी भी प्रकार नहीं करोगे कभी—
याद आयेगी तुम्हें जब मेरी और नहीं
तुम आह ! समीप पाओगे मुझे अपने।

[कहते कहते दृगों से वारिधारा ऐसे
वेग से प्रवाहित हुई जैसे अंतर का
बाँध ही टूट गया हो।

शब्द नहीं निकला
कच के मुख से भी; मानस में ज्वार आया,
अश्रु चुए लोचनों से, पर नियंत्रण में
किया उसने अपने को धैर्य से, कांता की
विकल व्यथा का शमन करने के लिए।
बोला तब दृढ़निश्चयता से, शीघ्रता से,
छूकर दोनों हाथ उसके—]

आत्मघात तो
करूँगा ही नहीं—पलायन दायित्वों से होगा
यह; साथ-साथ दुख को भुलाने के लिए
मद-पान-से व्यसनों में भी पड़ूँगा नहीं
जर्जर कर देने को शरीर को, मन को
दुर्बलता का परिज्ञान है मुझे अपनी,
जो निश्चय पर दृढ़ नहीं रहने देती
मुझे; परंतु आज बल प्राप्त हो गया है
तुम्हारी निर्मल प्रीति का मुझे। आश्वस्त हूँ,
शुभ कल्याण कामना का तुम्हारी रहेगा
ध्यान मुझे जब तक वचन का अपने
निर्वाह करने की शक्ति रहेगी मुझमें।

[आश्वस्त हो गयी देवयानी, प्रकृतिस्थ भी।
टकटकी बाँध कर तब वह देखने
लगी कच को ऐसे कि अंकित कर लेना
चाहती हो मूर्ति वह निज पुतलियों में
अथवा आत्मिक शक्ति से अपनी हिय के
पटल पर ही उतार लेना चाहती हो
छाया-चित्र प्रियतम का।

पुनः कच बोला—]
प्रिय संपर्क में तुम्हारे बिताया है मैंने
समय जितना, मधुमयी ! जीवन का था

वसंत-काल वह मेरे, जो अब बीता है
कभी न लौटने को, समेटकर अपनी
विभूतियाँ समस्त, सुरभिमयी माधुरी
सुखदायिनी, हर्षोल्लासमयी सरसता
जीवनदायिनी। ग्रीष्म-शिशिर का रहेगा
सूनापन ही अब जीवन में मेरे, जिसे
दूर करने को योजना बनायी है मैंने,
संस्मरण लिखने की संयोग-समय के,
समर्पण जिसका प्रियतमे! यह होगा—
जिसकी सलज्ज मुस्कान
मेरे जीवन की
सबसे मूल्यवान् सपत्ति है,
और
जिसकी सरल अल्हड़ता
मुग्ध अंतस्तल में मेरे
उल्लास भर देती है
एवं
जिसकी उजली चितवन
—मेघमाला में बिजली सी कौंध कर—
मेरे चतुर्दिक्
अपूर्व आलोक बिखेर देती है,
उसको ही भेंट है यह
उसके 'चंद्र' की, प्रियतम की।

तो यों कहिए कि भावुक कवि भी आप हैं;

अब तक छिपाये रहे भेद मुझसे भी,
अपनी रचना कभी नहीं दिखायी कोई !

[पुलक - प्रेरित मधुर मुस्कान से खिला
मुख - कमल कच का; बोला वह, स्वर में
रुचिर मधुरिमा भर कर —]

कविता की
साक्षात मूर्ति हो तुम, कृपा - कटाक्ष का पा
सके, वरदान जो तुमसे स्वप्न में कभी
कवि क्या, महाकवि हो जाय वह। और मैं ?
भेंट तुमसे होने के पूर्व तक तो नहीं
गिना - समझा जाता था कुकवियों तक में,
संपर्क में तुम्हारे आने का सौभाग्य हुआ
प्राप्त मुझे जब से, पूर्व सञ्चित सुकृत्यों
के सुफल से, बनाया प्रियतम अपना,
सहचर भी मुझे तुमने—रख दिया हो
वरद हस्त जैसे मस्तक पर मेरे -
तब से सुभाव ऐसे - ऐसे उमड़ते हैं
मानस में मेरे कि एक प्रवास - कथा क्या
अमर महाकाव्य तक रच सकता हूँ
अनायास। शर्त यही है कि मेरी प्रेरणा
और चेतना - शक्ति - स्वरूपिणी तुम रहो
सम्मुख सदा मेरे, अधरों में हास भरे,
अनियारे इन दृगों में अनुराग भरे,
कला-कृति- से अंग-अंग में थिरक भरे,

अंक में भरने का आमंत्रक भाव भरे।

दूसरे को बनाना खूब सीखा है आपने—
[बोली देवयानी तब प्रीति भरे स्वर में।]

मैं बना रहा हूँ तुम्हें—प्रिय प्राण-कांता को ?
सत्यता कभी भी परख तुम सकती हो
कथन की मेरे; इस समय तो तुमसे
चाहना है मेरी इतनी ही, भरती रहो
स्फूर्ति मुझमें साधना की सरस्वती की, औ'
प्रेयसि ! कामना करो, योजना उक्त मेरी
पूरी हो शीघ्र ही।

हृदय से प्रियतम ! मैं
करती हूँ कामना—योजनाओं की तुम्हारी
पूर्ण सफलता की। तुम्हारी प्रसन्नता के
समाचार ही तो जीवन का भार ढोने को
स्फूर्ति प्रदान करेंगे मुझे भी।

[मौन रहे
कुछ समय तक वे, तब कहा कच ने—]
विदा दो मुझे अब सहचरि ! प्राण ! कांते !
हर्ष से; उपहार-स्वरूप तुम्हें कुछ भी
दे नहीं सका मैं—यह साध लिये जाता हूँ।
प्रणय-चिह्न समझ के स्वीकार करतीं
जिसे तुम जब, आत्मिक संयोग-सुख का

अति उन्मादकारी अनुभव करता मैं;
आश्वस्त रहता—चाहा था जिसको प्राण से,
अपना लिया उस प्रेयसी ने हृदय से;
प्रदान किया यों सौभाग्य वह जो विधाता
भी नहीं दे सका मुझे।

प्रियतम मेरे !
पाया है जितना प्यार तुमसे और बातों
की थाती अक्षय सौंपी हैं जो तुमने मुझे,
शत - शत उपहारों से कहीं बढ़ के है
मेरे लिए। प्रेमभरी बातें तुम्हारी बसी
हैं हृदय में मेरे; प्राण में भिदकर हो
गयी है अभिन्न अंग सदा के लिए। करो
विश्वास अतएव, प्राणप्रिय चंद्र मेरे !
मृदुल स्पर्शों से कर-कमलों के तुम्हारे
पुलकन भर गयी है जो रोम-रोम में,
वही पर्याप्त है मधुमयी प्रिय स्मृति को
सजग रखने के लिए तुम्हारी सर्वदा।

सुखी हूँ कांते ! तुम्हारे इस आश्वासन से।
अंतिम कामना है एक मेरी—हो जाऊँगा
संतुष्ट इतने से ही मैं, सुख से ले सकूँगा
अंतिम स्वाँस भी, हृदय पर यदि मेरे
हाथ रखकर एक बार तुम कह दो

कि अगले जीवन में मिलन की लालसा
उत्कट है तुम्हारे भी हृदय में मेरी-सी।

सुखी नहीं कर सकी मैं प्रियतम मेरे,
तुम्हें किसी भी प्रकार, कसकती रहेगी
बार - बार बात यह जीवन भर मुझे;
हृदय पर हाथ रखकर कहती हूँ—
पुण्य किसी भी जन्म के यदि शेष हों मेरे,
अथवा इस जीवन में बन सके कोई
सत्कार्य मुझसे तो सुफल-रूप उसके
सामान्य अनुचरी ही तुम्हारी बनने का
सुख-सौभाग्य प्रदान करे विधाता मुझे
जन्म जन्म में।

[परम संतुष्ट हो कच ने
बायें हाथ से पकड़ लिया हाथ उसका
हृदय पर रखा हुआ था जो, तब दायाँ
कर निज कुछ ऊपर उठाकर बोला—]
अवस्था में बड़ा हूँ मैं तुमसे इसलिए
आशीर्वाद देता हूँ कांते ! तुम्हें हृदय से—
पार्थिव शरीर की नहीं है यह कामना—
रोम - रोम की मेरे निःसृत झंकार यही—
दिव्य ज्योति जन्य आत्मा का स्वर पुनीत भी—
जीवन में अपने तुम पूर्ण स्वस्थ रहो,
सुखी रहो सर्वदा।

[आगे कच, देवयानी
पीछे, आये दोनों बाहर कुटीर के ज्योंही
दिव्य सुयान एक उतरा गगन से औ'
पलक झपकते ही देवपुत्र को चढ़ा,
उठ र लुप्त हो गया।

सजग हो गयी
देवयानी, चौंक कर देखने लगी चारो
ओर, कुंज था सामने, पाटल के पुष्प थे,
गोद में अधखिली मालिका थी सुमनों की,
चमक रहे थे जिन पर अश्रु - बुंद यों,
ओस - बूँद जैसे, आँचल था भीगा उसका।

रखकर सुमन - पेटिका में मालिका को
शीघ्रता से आयी वह बाहर कुटीर के;
देखा पहले ऊपर, चारो दिशाओं में भी;
कुछ न दिया दिखायी कहीं। समझ गयी—
स्वप्न ही देख रही थी मैं बैठे - बैठे ही
दिवस में। स्वप्न भी आश्चर्यजनक कैसा!
पूर्वार्द्ध कितना सुखद! मधुर कितना!
प्रत्यक्ष यदि हो जाय तब भाग्यशालिनी
अहो! कौन होगी मुझ - सी विश्व समस्त में!

और उत्तरार्द्ध तो मानों आशंका का मेरी
साकार रूप था।

प्रतिमा - जैसी खड़ी रही
देवयानी उसी स्थान पर; दृष्टि तब उठायी
पुनः ऊपर को उसने, परतु दिखायी
न दिया जब कुछ उसे आह भर बोली--]
विषम समस्या है! प्रकट कर चुकी हूँ
स्व-प्रेम-भावना उनके प्रति इंगितों से
अनेक बार, न आकृष्ट हुए वे उनसे;
निर्लिप्त रहे सदा सरोवर के कंज से।
आशंकित हूँ इसी से, काँपता हृदय है,
समझ में आता नहीं, करूँगी क्या उपाय मैं!
सखी भी लौटकर अब तक आयी नहीं!

[लौटी फिर वह निज कक्ष में धीरे-धीरे;
दृष्टि पड़ी तभी उसकी मालिका अधूरी
पर, देखती रही जिसको वह ध्यान से;
कहने लगी तब स्वतः—]

देवपुत्र आते
होंगे यहाँ; छोड़ जायँगे मुझे क्या वे
वैसे ही जैसे स्वप्न में अभी विदा ले चले
गये अपने घर को सुयान से पल में?
संभव तो नहीं यह औ' असंभव भी

नहीं कहा जा सकता इसे । तो क्या मुझको....
नहीं, नहीं, एक-दो नहीं, बारह महीनों
की साधना मैं अपनी निष्फल नहीं होने
दूँगी इस प्रकार । उनको माननी होगी
बात मेरी । परंतु स्पष्ट प्रणय-याचना
कैसे करूँगी मैं उनसे ? स्वीकार अपनी
दुर्बलता को कैसे कर सकूँगी उनसे ?
दीन वाणी का अभ्यास नहीं किया है कभी।
अचरज है मुझे तो यही कि स्वप्न में ही
क्या-क्या कह गयी उनसे मैं--साहस हुआ
मुझे कैसे वैसा ! प्रणय की प्रिय भावना !
अयि परिचायिका नारी की निरीहता की !
अवलंब अब तो मैं ले रही हूँ तेरा ही।

मेरा नहीं आली ! अवलंब ले सदैव तू
देवपुत्र का—
कहते हुए प्रिय सखी ने
सहसा प्रवेश किया कुटीर में।

चौंक के
देखा देवयानी ने उसको । मूक जिज्ञासा
झलकने लगी नेत्रों में; प्रत्यक्ष न बोली
कुछ भी वह ।

समीप आ खड़ी हुई सखी;
आश्चर्य से देख अधूरी मालिका को, पूछा
उसने—]

सहेलि ! कलामयी ! किस लोक में
विचर रही थी तू इतने समय से जो
पूरी न कर सकी पुष्पमाला यह अभी !
देवपुत्र गये हैं पूज्य आचार्य की सेवा
में आज्ञा लेने प्रस्थान की घर को अपने।
आते ही होंगे यहाँ अभी; तू तो अलसायी
हुई ऐसी बैठी है हाथ पर हाथ धरे
रत ज्यों प्रेममयी तंद्रा के अभिनय में !
ला मैं ही पूरी करूँ इसे और शृंगार भी
तेरा। अमर-लोक में तो मणि-मुक्ताओं के
अपरिवर्तित आभा वाले आभूषणों से
अलंकृत रहेगी तू सदा; पर जन्म से
प्रकृति के मध्य में पली वनबाला का
नित नूतन सुरभिमय साज भी नहीं
है परिहार्य।

**[उत्तर न दिया देवयानी
ने, मुस्काती सखी को एक बार बस देखा
उठाकर बड़े बड़े कमल-नयनों को—
देखते-देखते जिनमें मोती भर आये—
और फिर नीचा कर लिया मुख उसने।**

देखकर दृश्य यह घबड़ा गयी सखी;
पूछने लगी आकुलता से—]

ये अश्रु कैसे
इस मंगल-बेला पर ? क्यों आशंकित हो
रही है तू व्यर्थ ही ? अथवा कोई कारण है
दूसरा व्यथा का तेरी ? विकल हूँ मैं सखी !
हेतु अपनी व्यथा का मुझे शीघ्र बता दे;
कह यह भी कि उपाय कौन सा करूँ मैं
जिससे कष्ट तेरा दूर हो जाय शीघ्र ही।

[संक्षेप में सुना गयी देवयानी उसको
सुना-कहा जो कुछ भी था स्वप्न में कुछ
समय पहले। बोली फिर—]

दुर्भाग्य का है
नहीं क्या यह दृश्य मेरे पूर्ण प्रत्यक्ष ही ?
रह रहकर हूक उठती है इसी से
कलेजे में कि यदि सचमुच त्याग गये
देवपुत्र इसी प्रकार तो कैसे करूँगी
जीवन-यापन उनकी अनुपस्थिति में ?

[सांत्वना-सी देती और उत्साहित करती
हुई बोली सखी—]

विचार है मेरा तो, तेरे
अनुराग-सूत्र में बँधे हैं देवपुत्र भी।

कौन ऐसा जन्मा है त्रैलोक्य में, हृदय हो
जिसके स्पंदनशील, भावभरा; फिर भी
क्षमता रखता हो अपार रूपराशि की
प्राप्ति का लोभ संवरण करने की कभी,
तिरस्कार कर यों सर्वथा पुष्पधन्वा का,
सिखाता है जो स्वयं ही लगन से, चाव से,
स्व-कलाएँ सभी वयःसंधिव्रती बाला को ?—
[कहकर सहास धरकर चिबुक को
उठाया मुख उसका स्नेह से लतिका ने ।

उल्लसित न हो सखी देवयानी इससे
जरा भी, और बोली यों लेकर साँस लंबी—]
रूपवती मुझको समझती है लतिके !
ममतामयी भावना आत्मीयता की तेरी;
सत्यता यदि किंचित भी होती कथन में
तेरे, तो क्या असफलता ही मिलती मुझे
इस प्रकार उपेक्षाभरी ? मानेगी तू भी—
रूप का प्रभाव तो प्रथम दर्शन में ही,
मोहिनी-सी डालकर वश में कर लेता है
प्रत्येक प्राणी को ।

[वाक्य पूरा कर सूखे
मन से हँस के देवयानी ने देखा सखी
की ओर, थाह लेना जैसे वह चाहती हो,
प्रभाव कैसा-कितना पड़ा बात का मेरी ।

लतिका ऋषिबाला की दृष्टि आरंभ में थी
गड़ी मुख पर देवयानी के; झलकती
प्रीति थी दृगों में उसके; स्निग्धता जिसकी
कम होती जाती थी सुन उक्ति सहेली की—
गुनकर मन में उसकी यथार्थता को।
देखा देवयानी ने ओर उसकी जब, हो
गयी दृष्टि नीची स्वतः ही स्नेहिनी सखी की।

बोली देवयानी फिर—]

रूपवती कितनी
क्यों न होऊँ इसे तो अस्वीकार कर ही
नहीं सकती तू—प्रभाव किंचित भी नहीं
डाल सका रूप मेरा देवपुत्र कच पै;
परंतु लज्जित मैं नहीं हूँ जरा भी आली!
इस तथ्य को अंगीकार कर; जानती हूँ
मैं संयम को उनके—मेनका, तिलोत्तमा,
रंभा, उर्वशी-जैसी अप्सराएँ अनेक भी
मुग्ध न कर सकी हों जिस जितेंद्रिय को,
गौर वर्ण मात्र पर आसक्त वह होगा—
समर्थन करती है इसका आत्मा तेरी?

[दृष्टि मिलायी लतिका ने सरलहृदया
देवयानी से एक बार, पर बोली नहीं
निराशा देखकर खिन्नमना सहेली की!

बोली देवयानी पुनः—]

आशंकित हूँ सखी !
इस कारण भी मेरे हृदय से उमड़ा
हुआ प्रेम-भाव अंकित रहा है सदा ही
मुख-मंडल पर मेरे; छलकता रहा
है नयनों में भी, प्रथम प्रिय दर्शन के
शुभ अवसर से ही। समझ नहीं सके
जब आज तक देवपुत्र उसे, बता तू,
तब आज—जब माता-पिता-सुबंधुओं की
स्मृति उमड़-घुमड़ रही होगी उनके
मानस में, कैसे स्वीकार करेंगे वे मुझे
मेरे प्रेम को ?

[धीरज प्रिय सखी को
देने के लिए तब सूत्र मिला लतिका को;
बोली वह—]

संभव हो सकता है यह भी,
गुरुदेव के भय से हिय में उमड़ते
प्रेम को दबाया हो उन्होंने विवशता से
संजीवनी विद्या को सिद्ध करने के लिए।
औ' उसकी प्राप्ति पर अब आज याचना
निसंकोच करें, बन के याचक तुम्हारे,
आचार्य वर से।

[देवयानी सोचती रही
कुछ देर उनकी बात को; बोली तब यों,
अति उदास स्वर में—]

तर्क जँचता नहीं
कुछ मुझको यह भी हृदय में उनके
प्रेम-भाव होता जो मेरे प्रति किंचित भी,
किसी प्रकार तो प्रकट वे कर ही देते
उसे आज तक; परंतु उनका सदा ही
उदासीन रहना आह ! क्या कहूँ तुझसे !
विदित होता है मुझे—कभी भी सुख नहीं
बदा है मुझ हतभागिनी के फूटे भाग्य में।

[साश्रु लोचनों से तब देखा देवयानी
को सखी ने, समवेदना से हृदय भरा
उसका। रुँधे हुए कंठ से फिर बोली यों—]
विकलता देख - देखकर सहेलि ! तेरी
हतबुद्धि मैं होती हूँ; उपाय न समझ में
आता है कोई कि सांत्वना मैं कैसे दूँ तुझे।
व्यवहार जैसा भी रहा है देवपुत्र का
अब तक तेरे प्रति, भुलाने को उसे ही—
सत्य कह रही हूँ, धैर्य दे रही थी तुझे,
उत्साह बढ़ा रही थी तेरा। भुलावे में तू
न आयी बुद्धिमती जब—स्पष्ट कहती हूँ,
लाभ क्या है, इस प्रकार विकल होने से ?
भाग्यवादिनी ! विश्वास कर भाग्य पर ही।

जिस सदय विधि ने दयाकर भेजा है
देवपुत्र को, रुचिकर संपर्क में तेरे,
कृपा-स्रोत उसका—क्यों बात यह ध्यान में
लाती है—सूख जायगा अब तेरे ही लिए ?
दूसरा चारा ही क्या है, बता, ऐसी स्थिति में ?

[देवयानी सुनती रही वाणी लतिका की
समवेदनाभरी; रीती दृष्टि से देखती
रही ओर उसकी पल भर; पुनः बोली
धीरे से ठंढी साँस ले—]

विधि का विधान है
रहस्यमय, लतिके ! सत्य कहती है तू ।
मानव खिलौना मात्र है उसके हाथ का ।
वश में थे उपाय जो कर चुकी सब हूँ,
अब तो सखी मेरी ! प्रतीक्षा ही करनी है
देवपुत्र के आने तक । देखना है, लिखा
है मिलन मेरा स्वचंद्र से मेरे भाग्य में,
अथवा हतभागिनी ही रहूँगी मैं सदा सी ।

[आह भर कर चुप हो गयी देवयानी;
मस्तक तभी झुक गया उसका—लतिका
पोंछने लगी अश्रु उसके स्व - अंचल से,
हृदय भर आया इसका औ' नयन भी]

—(:※:)—